Chapter-1

प्रथम अध्याय

लाल का जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व -निर्माण की पृष्ठभूमि

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक को उसके वास्तविक रूप से पहिचान कराने में डा0 लक्ष्मीनारायण लाल की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। नाटक और रंगमंच के प्रति उनका जो लगाव है, उसके सूत्र बाल्यकाल से ही खोजना आवश्यक है। संस्कार और परिवेश- दोनों ही लाल के नाट्य-व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इन्हें समझने के लिये उनके जीवन- वृत्त पर एक दृष्टि डालना समीचीन होगा।

लाल का जन्म बस्ती जनपद के अन्तर्गत जलालपुर नामक गांव में चार मार्च सन् उन्नीस सौ सत्ताइस को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री शिवसेवकलाल, माता का नाम श्रीमती मूंगादेवी, दो बड़े भाइयों का नाम क्रमश: बल्देव प्रसाद और कान्ताप्रसाद एवं दो छोटी न बहिनों का नाम क्रमश: माया और सावित्री था।

लाल की जन्मभूमि जलालपुर प्राकृतिक दृष्टि से एक सम्पन्न गांव है। गांव की सीमा पर बहनेवाली कुआनो और मनोरमा नदियां इस क्षेत्र को नैसर्गिक सौंदर्य प्रदान करती हैं। निसर्ग का यह सौंदर्य लाल को बाल्यकाल से ही मानसिक स्तर पर प्रभावित करता रहा हो- ऐसा सहज और स्वाभाविक है। साथ ही परिवेश में छिपा सांस्कृतिक वैभव भी ऐसा प्रभाव है जो लाल को बचपन से ही अपनी परंपराओं से जुड़ने की प्रेरणा प्रदान करता रहा। जलाल पुर के इस परिवेश को एक नाट्य समीक्षक ने इस प्रकार वर्णित किया है -'---- गांव- गांव में रासलीला और रामलीलाएं होती थीं। घर-घर गौना, व्याह, जनेऊ जैसे अवसरों पर सफेड़ा, नौटंकी और नाटकों की धूम रहती थी। डा0 लाल लिखते हैं-' जहां मेरी जन्मभूमि है- जलाल पुर, जिला-बस्ती, यू0पी- वहां मेरे बचपन में बहुरूपिया, नौटंकी, विदेसिया, सफेड़ा, कठघोड़वा और रामलीला- इन लोकमंचीय प्रकारों की धूम मची रहती थी और मैं इनके प्रदर्शनों का दर्शन बना रात भर जागता हुआ इनमें रसविभोर रहता था।'[1] लाल को सांस्कृतिक परम्पराओं से जोड़ने में उपर्युक्त परिवेश

1- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच। डा0 दयाशंकर शुक्ल, पृ0 22

की देन- परोक्षत: अवश्य रही है।

जलालपुर में प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद लाल ने मिडिल कक्षा का अध्ययन जलालपुर के समीप ही पिपरा गौतम नामक स्थान पर पूरा किया। तत्पश्चात बस्ती की एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी मध्य सन् 1942 में जब वे कक्षा नौ में ही पढ़ते थे- उनका विवाह फैजाबाद जिले की टांडा तहसील की निवासिनी आरती देवी से हो गया और अपरिपक्व अवस्था में ही वे दाम्पत्य की जिम्मेदारियों से बंध गये। यहीं ~~में~~ ~~ही~~ उनका सम्पर्क स्कूल के प्राचार्य श्री बी0 एम0 चक्रवती से हुआ जो स्वयं नाटकों के पठन-पाठन और मंचन में रुचि रखते थे। हाईस्कूल उत्तीर्ण होते न होते यह स्कूल क्रमोन्नत होकर गोविन्दराम सेकसरिया इण्टरमीडिएट कालेज में परिणत हो गया। अतएव इण्टर भी लाल ने यहीं से किया। यहां के अध्ययन के बाद सन् 1946 में लाल इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी0 ए0 के अध्ययन के लिए प्रविष्ट हुए। इस अध्ययन काल में वे विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद के अध्यक्ष भी रहे। इस समय तक वे ताजमहल के आंसू आदि एकांकियों की रचना कर चुके थे जो सन् 1947 में इसी नाम से संग्रह रूप में प्रकाशित भी हो गया। सन् 1950 में इसी विश्वविद्यालय से उन्होंने हिन्दी विषय में एम0 ए0 परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसी समय उनके यहां प्रथम सन्तान पुत्र आनन्द का जन्म हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही सन् 1952 में हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि के विकास ~~पर~~ विषय पर पीएच0 डी0 की उपाधि प्राप्त कर ली। डाक्टरेट के पूरे होते- होते इनके यहां कन्यारत्न का जन्म हुआ जिसका नाम सरोजिनी रखा गया। डाक्टरेट के तत्काल बाद ही वे एस0 एम0 कालेज- चन्दौसी में हिन्दी के प्राध्यापक चुन लिये गये। चन्दौसी में नौकरी प्राप्त होने के बाद ही इन्हें दूसरे पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम अजय रखा गया। यह एक सहज संयोग है कि उपर्युक्त तीन शैक्षणिक उपलब्धियों के समान्तर उनके परिवार में भी तीन सदस्यों की वृद्धि हुई। चन्दौसी के अध्यापन काल में उन्होंने 'काबुलीवाला' नाटक का मंचन किया और 'मम्मी ठकुराइन', 'ठण्डी छाया' और 'मैं आइना हूं' नामक एकांकियों की भी रचना की।

सन् 1955 में इन्हें सी0 एम0 पी0 कालेज, इलाहाबाद में अध्यापन की नौकरी मिल गयी। सन् 1956 में लाल के नाट्य- व्यक्तित्व को मुखर होने का अवसर प्राप्त हुआ जब वे आकाशवाणी, लखनऊ केन्द्र पर ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर आधिष्ठित हुए। इस समय यहीं 'स्पोकन वर्ड्स' के प्रोड्यूसर श्री भगवतीचरण वर्मा थे। कतिपय व्यावहारिक प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण छ: महीने के अन्तराल में ही इन्होंने इस पद का त्याग कर दिया और लौटकर सी0 एम0 पी0 कालेज में अध्यापन कार्य करने लगे। यहीं रहते हुए सन् 1958 में इन्होंने अनेक नाट्य प्रेमियों के साथ मिलकर 'नाट्य केन्द्र' (School of Dramatic Art) की स्थापना की। इस संस्था के मंत्री और कोषाध्यक्ष पद पर रहते हुए नाटक और रंगमंच के समन्वय के प्रयास में लगे रहे। 'रंगमंच की दिशा में प्रवृत्त होने में लाल को एक विस्तृत दृष्टि का कैनवास तब प्राप्त हुआ जब सन् 1965 में भारत सरकार ने इन्हें International theatre Seminar में रोमानिया की बुखारेस्ट नगरी में एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भेजा। इस अवसर पर इन्हें ग्रीक, इटली, फ्रांस, ब्रिटेन के थियेटर के सम्बंध में जानकारी प्राप्त हुई। ग्रीक नेशनल थियेटर द्वारा आयोजित 'एथेन्स समारोह' में ओरियण्टल -थियेटर विषय पर छ: भाषण देकर भारतीय रंगमंच के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया। रोमानिया में 'कमोदिया-दि-लार्ते' एवं 'कमोदिया दि-फ्रांसे' के प्रेक्षण ने इन्हें पश्चिम के रंगमंच को अवधारणा के स्तर पर समझने का अवसर प्रदान किया। नाटककार के रूप में उभरती लाल की प्रतिभा को इस विदेश यात्रा ने निस्संदेह एक दृष्टि प्रदान की। विदेश से लौटकर ये दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में व्याख्याता-पद पर प्रतिष्ठित हुए। अपनी स्वतंत्र -चिन्तन-प्रवृत्ति के कारण दो वर्ष तक उक्त पद पर बने रहने के पश्चात उन्होंने यह पद त्याग दिया। सन् 1967 में इन्होंने रंगकर्म के क्षेत्र में 'सम्वाद' नामक संस्था का आरम्भ किया। यहाँ चार वर्ष तक सक्रिय कार्य करने के बाद सन् 1971 में लाल नेशनल बुक ट्रस्ट के सम्पादक बने लेकिन एक वर्ष बाद ही इस पद का त्याग कर ये स्वतंत्र रूप से लेखन के क्षेत्र में उतर आये। तब से अपने कर्मक्षेत्र दिल्ली में रहकर ये नाट्य- लेखन और उनके मंचन की दिशा में प्रवृत्त बने रहे हैं। नाट्य-लेखन के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, एवं नाट्य-सिद्धान्त विषयक

ग्रन्थों का प्रणयन भी करते रहे हैं। सन् 1978 में इन्हें संगीत नाटक एकेडमी द्वारा नाट्य- लेखन का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

उपर्युक्त जीवन परिचय से लाल के जीवन के तीन विकास-स्तर देखने को मिलते हैं - प्रथम, उनके व्यक्तित्व-निर्माण के वे प्रारम्भिक वर्ष जब वे विश्वविद्यालयी-शिक्षा प्राप्त कर कर्म- क्षेत्र में उतरे ही थे। अध्यापन को वे आजीविका के रूप में स्वीकार चुके थे। निर्माण की प्रक्रिया से गुजरकर स्थापित होने की दृष्टि से सन् 1965 का वर्ष महत्वपूर्ण है जब वे विदेश में नाटक और रंगमंच सम्बंधी व्यवहारिक दृष्टि लेकर लौटे थे। व्यक्तित्व निर्माण की इस पृष्ठभूमि में इलाहाबाद था। लाल के जीवन के विकास का दूसरा स्तर उनके 'संघर्षों' के मध्य गुजरने के रूप में मिलता है। सन् 1967 में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक पद का त्याग, सन् 1972 में नेशनल बुक ट्रस्ट के संपादक पद का त्याग संघर्ष की मानसिकता को व्यंजित करनेवाले घटक हैं। इस समय वे दिल्ली को अपना कर्मक्षेत्र बना चुके थे। जीवन के इस दूसरे विकास स्तर पर यह बात देखने को मिलती है कि लाल को जीवन में चुनौतियाँ स्वीकार करने के साथ-साथ हमारे सामाजिक जीवन की उस वास्तविक स्थिति से भी साक्षात्कार हुआ जिसका उल्लेख इस कथन में हुआ है - 'ऐसी पीढ़ी जो स्वतंत्रता के 25 वर्षों बाद भी अपना टूटा विश्वास अर्जित नहीं कर पायी, विकास-सूत्रों के प्रति चेतन न होने से अब तक अन्धकार में पड़ी है, एक प्रकार के 'क्रिसिस आफ स्पिरिट' से गुजर रही है- अन्तश्चेतना के साक्षात्कार की प्रेरणा देती है।[1] नौकरशाही द्वारा तोड़े गये विश्वास और क्रिसिस आफ स्पिरिट से गुजरने की अनुभूति ही जीवन के दूसरे विकास-स्तर पर लाल को प्रमुख हुई।

संघर्ष से प्राप्त बोध और उसका क्रियान्वयन अपनी जीवन-पद्धति में- यह लाल के विकास-शील व्यक्तित्व का तीसरा स्तर है। इस स्तर पर लाल के

1- लक्ष्मीनारायणलाल के नाटक और रंगमंच- डा0 दयाशंकर शुक्ल, पृ0 86

जीवन में आया वह आत्म विश्वास है जिसके कारण वे स्वतंत्र लेखन द्वारा पारिवारिक और सामाजिक चुनौतियों को स्वीकार कर रहे हैं। इस अर्थ युग में लेखन को जीविकोपार्जन का माध्यम बनाना- यही सबसे बड़ी चुनौती है जिसका सामना करते हुए वे अपने पारिवारिक व सामाजिक स्तर को बनाये हुए हैं।

लाल का उक्त परिचय उनके जन्म से लेकर अब तक की एक विकासशील झाँकी प्रस्तुत करता है। लाल के जीवन के विकास का प्रथम सोपान उनकी जन्म-भूमि जलालपुर है, दूसरा सोपान है- बस्ती का स्कूली जीवन और तीसरा सोपान है इलाहाबाद का विश्वविद्यालयी जीवन।

जलालपुर का सांस्कृतिक परिवेश लाल के विकासशील मानस के लिये उर्वरभूमि का कार्य करता प्रतीत होता है। जब लाल यह कहते हैं कि- यह (जलालपुर) सोयी हुई नहीं, जगी हुई जगह थी, एक प्रकार की क्रियाशीलता, एक्शन इस जगह पर था जो प्रेम और विषाक्त- दोनों ही वातावरण से युक्त था'[1]- तो जन्मभूमि के प्रति अत्यधिक लगाव का द्योतक होने के उपरान्त उनका यह कथन उस गाँव के वैविध्यपूर्ण परिवेश की ओर संकेत करता है। यह विविधता लाल के सामाजिक विकास में परोक्ष रूप से प्रभाव डालने वाली रही है। एक ओर गाँव के सांस्कृतिक उत्सवों में भाग लेकर लाल एक्टर की मानसिकता को जीते थे और उन उत्सवों का सामुदायिक स्तर पर आस्वादन करते थे। दूसरी ओर, गाँव में आये दिन होने वाले पुलिस के अत्याचार और मारपीट को देखा करते थे और इस प्रकार क दर्शक के भाव-बोध को जीते थे। तात्पर्य यह कि वे अपने परिवेश में एक्टर भी थे और दर्शक भी। परिवेश के साथ जुड़ना और उसके प्रभावों को अपने व्यक्तित्व-विकास में ग्रहण करना- यही लाल के प्रारम्भिक जीवन की विकास प्रक्रिया है। कालान्तर में उनके साहित्य में अपने ग्रामीण परिवेश से जुड़कर 'भावात्मक ऐक्य' की स्थापना करने वाले उनके समान अनेक चरित्रों का सर्जन देखने को मिलता है। 'गंगामाटी' की नायिका उसी

1- लाल से साक्षात्कार।

ऐक्य की स्थापना करती प्रतीत होती है। 'देवीना' का बूढ़ा बाबा इसी ऐक्य का प्रकृति-पर्यन्त विस्तार पाता है। 'वसन्त की प्रतीक्षा' की मीनाक्षी इसीलिए शहर छोड़कर अपनी नौकरानी के गांव जाकर बसने का संकल्प लेती है और 'धरती- की आँखें' के गोविन्द और जैनब अलग- अलग धर्मों के होने पर भी उसी ऐक्य की स्थापना करते हैं।

जलालपुर और उसके परिवेश से बस्ती की ओर संक्रमण लाल के जीवन में 'स्व' से 'परिवेश' की ओर बढ़ने अथवा समाजीकरण की ओर बढ़ने की प्रक्रिया कही जा सकती है। जलालपुर के सापेक्ष में बस्ती का परिवेश अपेक्षाकृत बड़ा था किन्तु निरपेक्ष रूप से देखने पर वह अन्ततः 'इण्टेन्सिव' ही था, उसमें फैलाव नहीं था। बस्ती का यह परिवेश कैसा था, इस सम्बंध में लाल का यह कथन द्रष्टव्य है- 'वहां (बस्ती में) प्रेम, मित्रता के प्रति कोई लगाव नहीं था, रिवरेन्स था।'[1] लेकिन उन्हीं के शब्दों में - 'वहां सांस्कृतिकता अवश्य थी।[2] बस्ती के जीवन के मध्य- लाल उस किशोर मानसिकता से गुजर रहे थे जो नागर संस्कृति को ग्रहण करना तो चाहती है लेकिन गांव की मोहकता उस पर बार-बार हावी हो जाती है और वह उसका त्याग नहीं कर पाती। सामाजिक विकास की दिशा में 'स्व' और उससे सम्पृक्त सभी प्रकार के मोह का त्याग आवश्यक होता है और जलालपुर से बस्ती की ओर संक्रमण में लाल का किशोर मन जैसे इसी प्रक्रिया से गुजर रहा था।

लाल के प्रारम्भिक जीवन में संघर्षजीवी होने की एक विशेष स्थिति रही है। इस संघर्ष का प्रारम्भ बचपन से ही हो चुका था। घर में पढ़ाई का कोई वातावरण नहीं था। बल्कि परिवार में ~~उनके~~ उनके पढ़ने पर एक प्रकार का मूक विद्रोह बना ही रहता था। ऐसे में आगे बढ़ने की कोई प्रेरणा या उदाहरण नहीं था। तथापि लाल ने अभाव के मध्य अपना मार्ग खोज निकाला। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में- 'जिज्ञासा और श्रद्धा का वह भाव था जो मेरे अन्तर में समाया हुआ था।[3]

1- लाल से साक्षात्कार।

2- वही-

3- वही-

जिज्ञासा और श्रद्धा वहां पनपती है जहां व्यक्ति में महत्वाकांक्षा होती है और कहीं से भी कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न होता है। विषम वातावरण से निकल कर जब लाल बस्ती में पहुंचे तो संघर्ष पारिवारिक स्तर से बढ़कर समाज के विरुद्ध होने लगा। शहरी जीवन में स्वयं को न खपा पाने की स्थिति में कभी- कभी उनमें अपराध-बोध भी जागता था कि क्या गांव का होना ही उनके प्रति की जा रही उपेक्षा का मूल है ? ऐसी स्थिति में संघर्ष 'बाहर' से 'अन्दर' की ओर हो जाया करता। इसी मध्य नौवीं कक्षा की अपरिपक्वावस्था में उनका विवाह हो गया तो वे विरोध न कर सके। इसका कारण माता-पिता की इच्छा के विरोध में खड़े न हो सकने की वह अशक्ति थी जो उन्हें रागात्मक धरातल पर विरोध न कर पाने की कमजोरी से बांधती थी। तथापि यह विद्रोह उनमें एक मानसिक तनाव तो उत्पन्न करता ही था जिसके सम्बंध में वे कहते हैं- 'कितनी घटिया है हमारी सोसायटी जिसने मेरा विवाह किया और चूंकि मैं पढ़ रहा था, सो उनका विरोध था कि यह पढ़ क्यों रहा है ? और इस बात का दण्ड पत्नी को सहना पड़ा। मुझे तो खैर ! संघर्ष में विद्या मिली, कुछ मिला पर पत्नी ने बहुत सहा।[1] संघर्ष का ही एक कोण छात्र जीवन की वह महत्वाकांक्षा थी- कुछ बनने के लिए- जिसके लिये वे एक कम्बल और कुछ रुपये लेकर गांव से बस्ती की ओर निकल पड़े थे। छात्र जीवन के संघर्ष का ही तो यह एक रूप था कि अपने अध्ययन का पैसा जुटाने के लिये अपने एक उपन्यास 'रक्तदान' को केवल कुछ रुपयों में बेच देना पड़ा था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ऐसे अनेक अवसर आये जब लाल को संघर्ष से गुजरना पड़ा। विश्वविद्यालय में प्रवेश की तिथि निकल जाने के उपरान्त वाइस- चान्सलर को अपनी मुखर अभिव्यक्ति से प्रभावित कर प्रवेश की अनुमति लेने वाला लाल का यह जीवन प्रसंग उसी संघर्ष का एक उदाहरण है। एम0 ए0 में अपने अध्ययन का पैसा जुटाने के लिये लाल ने ट्यूशन भी की और इंडियन प्रेस में प्रूफ-रीडिंग भी की। इस प्रकार अभाव और संघर्ष

1- लाल से साक्षात्कार।

के मध्य राह बनाने का लाल का मनोबल अस्तित्व-संघर्ष की वह भूमि है जो समाज-शास्त्री कूले के मतानुसार व्यक्तित्व को समाज में दृढ़तापूर्वक स्थापित करने के लिये व्यक्ति को जल की धारा के विपरीत चलनेवाली मछली का आत्म बल प्रदान करती है। लाल के अनेक चरित्रों में 'विपरीत से मार्ग खोज निकालने ' के संकल्प के पीछे उनका स्वयं का अनुभव किया गया जीवन- यथार्थ प्रतिबिंबित होता है। 'सूर्यमुख' के प्रद्युम्न और वेनुरती विपरीत सम्बंधों के मध्य प्रेम के 'जीवन-वर्मा' स्वरूप की स्थापना करते हैं। 'बड़ी चम्पा छोटी चम्पा' की दोनों बहिनें वेश्या- जीवन की नारकीयता के मध्य चारित्रिक औदात्य की खोज करती हैं। 'कलंकी' का रूप तो विपरीत मार्ग पर चलकर ही अन्तत: उत्सर्ग को प्राप्त करता है।

लाल के प्रारंभिक जीवन में जो धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभावों की चर्चा ऊपर हुई है, वे उनके व्यक्तित्व -विकास में सहायक रहे हैं। यहां पर उन प्रभावों को दो प्रकार से लक्ष्य किया जा सकता है -

1- व्यक्तित्व के विकास में स्थानीयता(Locality)या क्षेत्र का प्रभाव।

2- व्यक्तित्व के विकास में परिस्थितियों का प्रभाव।

प्रथम प्रकार का प्रभाव जलालपुर गांव की सामाजिकता, वहां का प्राकृतिक परिवेश और वहां आये दिन होनेवाले सांस्कृतिक-धार्मिक आयोजन के रूप में देखा जा सकता है। इस क्षेत्रीयता ने लाल के मानस को नाट्य-व्यक्तित्व के अनुरूप ढालने में सहायता प्रदान की। यही नहीं, भारतीय लोक-मानस के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में भी ये स्थानीय प्रभाव काम आये। लाल के अद्यतन साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उनकी मूल संवेदना एक ऐसे कोमलकान्त और आस्थावादी साहित्यकार की है जो अपनी परम्पराओं, अपने लोक- परिवेश और अपने ही संस्कारों से जुड़ने को कटिबद्ध है। इसीलिये 'अन्धा कुआं' में कमालपुर की संपूर्ण सामाजिकता हमारे गांवों की उस सामाजिक स्थिति का प्रतिबिंब है जिसे लाल ने जलालपुर में देखा था। 'गंगामाटी' में गांव और उसके जीवन के चित्र लाल पर स्थानीय प्रभावों

की व्यंजना करते हैं। 'पंच पुरुष' का समाज भी उसी ग्रामीण परिवेश के प्रभाव का परिणाम है। इसी कारण अज्ञेय के शब्दों में लाल देहाती हैं क्योंकि- 'परिवेश का सूक्ष्म पर्यावलोकन, पर्यवेक्षण वनचारी भी करता है : वही परस्परता और सन्तुलन का आधार होता है पर वह कुतूहल नहीं है और अजनबी या गैर की ओर उन्मुख या केन्द्रित नहीं है। देहाती जब किसी को 'अजनबी' या 'स्ट्रेन्जर' कहता है तब उसे घूरता है : देर तक घूरता है, उसे असमंजस में डालने तक घूरता है और उसमें निर्णयात्मक भाव होता है जिसे विरोध तो नहीं पर अस्वीकार अवश्य कहा जा सकता है।[1]

दूसरे प्रकार के प्रभाव को बस्ती और इलाहाबाद के जीवन के संदर्भ में विशेष रूप से देखा जा सकता है। अध्ययन-काल में प्राप्त वातावरण लाल के व्यक्तित्व विकास में सहायक हुआ है। श्री वी0 एन0 चक्रवर्ती के नाटकों के प्रति प्रेम ने लाल को इस दिशा में उन्मुख होने की पर्याप्त प्रेरणाएं प्रदान कीं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रहते हुए तो नाटककार के रूप में उभरने के उन्हें अवसर भी मिले। विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में उनके लिखे गये एकांकी 'ताजमहल के आँसू' का मंचन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय घटना है। यहाँ प्राय: डा0 रामकुमार वर्मा के नाटक खेले जाते रहे थे। डा0 वर्मा से लाल का सम्पर्क उनके नाट्य-व्यक्तित्व के विकास में सहायक बना। डा0 वर्मा के नाटकों के मंचन के समय लाल प्राय: ~~प्रम्पिटंग~~ प्राम्टिंग किया करते ~~हैं~~ थे। विश्वविद्यालय की 'परिमल' नामक संस्था में ये एक जिज्ञासु अभिनेता के रूप में प्राय: सहायता किया करते थे।

ब्रेण्डर मैथ्यूज के अनुसार व्यक्तित्व और समाज-तत्व का परस्पर समन्वय दो प्रकार से होता है - व्यक्तित्व या तो समाज तत्व के साथ विकसित होता है अथवा वह समाज तत्व में ऊपर से मिलता है।[2] लाल के जीवन वृत्त में समाज तत्व

1- कृतिकार लक्ष्मीनारायणलाल- 'जो दिया है' (अज्ञेय) पृ0 17

2- देखिये- नाटक साहित्य का अध्ययन-ब्रेण्डर मैथ्यूज(अनु0इन्दुजा अवस्थी)पृ08

अथवा परिवेश में व्यक्तित्व के ऊपर से मिलने की प्रक्रिया नहीं है प्रत्युत दोनों अन्योन्याश्रित प्रभाव के रूप में आगे बढ़े हैं। मैथ्यून ने इस प्रक्रिया को नाटक के वस्तु-तत्व के शीघ्रता से विकास करने के सन्दर्भ में विवेचित किया है। लेखक की उक्त स्थापना नाटक के वस्तु- तत्व के विकास में जितनी सत्य है, जीवन के विकास में भी उतनी ही सत्य है। इलाहाबाद के परिवेश में रहते हुए अपने व्यक्तित्व -निर्माण की दिशा में लाल को अनेक अवसर प्राप्त हुए। विश्वविद्यालय में अपनी नाट्य-रुचियों के अनुरूप जो परिवेश और व्यक्ति मिले- उनका लाल ने उपयोग किया। इससे मैथ्यूज के उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है।

व्यक्तित्व विकास की उपर्युक्त सामाजिक प्रक्रिया के अतिरिक्त यहाँ लाल के व्यक्तित्व-विकास की उस आन्तरिक प्रक्रिया का विवेचन भी समीचीन होगा जो व्यक्ति में निहित प्रतिरोधात्मक शक्तियों द्वारा संचालित होती है। इन्हीं के मध्य व्यक्ति समाज के साथ समायोजन(Adaptation) की शक्ति संगठित करता है।

लाल के जीवन में ऐसी प्रतिरोधात्मक शक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है जो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हुई हैं। प्रारंभ में शिक्षा- प्राप्ति के महत्वपूर्ण वर्ष अभावों के मध्य गुजरे थे। बस्ती में अध्ययन के लिये गाँव से एक कम्बल और कुछ रुपये लेकर चलने वाला बालक किस प्रकार परिस्थितियों से समायोजन करता है - यह लाल में प्रारम्भ से ही संघर्षों के बीच मार्ग खोजने वाली आन्तरिक शक्ति का प्रमाण है। इलाहाबाद के जीवन में उनके आन्तरिक व्यक्तित्व- विकास में दो बार संघर्ष या Dis-equilibrium की स्थिति आयी। प्रथम उस समय जब वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिये संघर्ष कर रहे थे और वाइस-चांसलर की यह भर्त्सना भी सुन चुके थे कि क्या तुम्हारे सुरखाब के पर लगे हैं जो तुम्हें एडमीशन दे दें और दूसरी तब जब वे एम0 ए0 प्रथम वर्ष में सर्वोच्च स्थान पर रहने पर भी एम0 ए0 द्वितीय वर्ष में एक नम्बर से प्रथम आने से वंचित रह गये। दोनों ही स्थितियाँ व्यक्तित्व- विकास की यात्रा में कसौटियाँ थीं और लाल दोनों के बीच

अपना मार्ग बनाने में सफल रहे। इसे व्यक्तित्व में प्रच्छन्न आन्तरिक ऊर्जा(Resistance-force) के रूप में पहिचाना जा सकता है। व्यक्तित्व में निहित ऊर्जा की उक्त खोज Homeostatis [1] कही जाती है जो लाल के व्यक्तित्व-विकास में भी देखी जा सकती है। लाल के संघर्षपूर्ण जीवन के तीन रूप कहे जा सकते हैं -

प्रथम- इच्छाओं और अभावों के मध्य द्वन्द्व

द्वितीय- 'स्व' और 'पर' के मध्य द्वन्द्व

तृतीय- जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं और व्यक्तित्व-विकास की अन्य आवश्यकताओं के मध्य द्वन्द्व।

इच्छाओं और अभावों के मध्य द्वन्द्व प्रत्येक मध्यमवर्गीय व्यक्ति के जीवन की अनिवार्य स्थिति है। लाल के जीवन में भी यह द्वन्द्व था जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। दूसरे प्रकार का द्वन्द्व उनके 'स्व' और 'पर' के मध्य देखा जा सकता है। मनुष्य का 'स्व' उसे गतिशील बनाने वाला एक ऐसा तत्व है जो आत्म-स्वरूप की रक्षार्थ होता है। लाल में प्रारम्भ से ही जो अस्तित्व- बोध देखने में आता है, और जिसकी अभिव्यक्ति क्योर-हास्टेल में 'ताजमहल के आंसू' खेले जाने के रूप में हुई- वह यही 'स्व' है। इसे बनाये रखने के पीछे एक प्रबल कारण यह था कि वे सामाजिक जीवन में कुछ विशेष रूप से पहिचाने जाने की महत्वाकांक्षा लिये हुए थे। लेखन- कर्म के पीछे यही महत्वाकांक्षा कार्य कर रही थी। इसीलिए वे विश्वविद्यालय की साहित्यिक व सांस्कृतिक गतिविधियों में आगे बढ़कर भाग लेते थे। तीसरे प्रकार का द्वन्द्व मूलभूत आवश्यकताओं और अतिरिक्त आवश्यकताओं के मध्य था। संस्कृति, कला एवं साहित्य को अवकाश के क्षणों की देन माना जाता है। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं - भोजन, वस्त्र आदि की जब तक व्यवस्था न हो,

---

1- विशेष सन्दर्भ के लिये देखें - Dynamic psychology/Percival M. Symonds (Cloud Bernard का कथन)

मनुष्य अतिरिक्त आवश्यकताओं यथा- संगीत, नाटक, साहित्य- की ओर नहीं बढ़ता। छात्र जीवन में यही द्वन्द्व व्यक्तित्व के विकास की कसौटी होता है। लाल ने अपने प्रारंभिक जीवन में दोनों का ही समन्वय किया है। ट्यूशन पढ़ाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और इस प्रकार अपनी आन्तरिक शक्तियों को अवसर प्रदान करना लाल के जीवन में लक्ष्य की जा सकने वाली ~~समन्वित~~ समन्वित जीवन पद्धति है। स्वावलंबन का जो आत्म गौरव होता है, उसकी अभिव्यक्ति लाल इन भावपूर्ण शब्दों में करते हैं - शरणागत नामक नाटक के रेडियो प्रसारण द्वारा प्राप्त पैसों से मैंने प्रथम बार ~~सर्दियों के~~ सर्दियाँ कोट के सहारे बितायीं।[1]

किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक प्रकार का अनन्य लगाव (Excessive attachment of desire to some person or object)[2] व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार के स्थैर्य (Fixation) का निर्माण करता है। ऐसा स्थैर्य लाल के जीवन में भी देखने को मिलता है। अपने गाँव और लोक- परिवेश के प्रति एक प्रकार का लगाव लाल को प्रारंभ से ही रहा है। उत्तर प्रदेश का पूर्वान्चल तो उनके साहित्य का वर्ण्य ही है। 'अन्धाकुआं' से लेकर 'सगुन पंछी' और 'धरती की आँखें' से लेकर 'वसन्त की प्रतीक्षा' तक जैसे उनका अपने अंचल के प्रति ममत्व फूट पड़ा है। लाल की ये पंक्तियाँ जैसे उनके जीवन के क्रमिक रूप से समक्ष आये गाँव (जलालपुर), कस्बे (बस्ती) में और नगर (इलाहाबाद) के जीवनानुभव प्रकट हो गये हैं - उसकी दृष्टि में गाँव की आत्मा, उसकी संस्कृति एक ऐसी शकुन्तला है जो ऋषि कन्या है फिर भी शापित है, किसी की दुल्हन और प्रेमिका है लेकिन उपेक्षिता है। फिर भी उसका पथ जीवन है, मरण नहीं - उसमें विश्वास, तपस्या और श्रद्धा है- मृत्यु की पराजय और दासता नहीं। ठीक इसके विरुद्ध शहर की आत्मा और संस्कृति- एक स्वतंत्र कुमारी की भाँति है जो अपने व्यक्तित्व में अपने को सम्पूर्ण समझती है।

1- लाल से साक्षात्कार।

2- Dynamic psychology – Percival M. Symonds / Fixation / P. 158.

वह सबकी है, सब उसके हैं लेकिन कोई किसी का नहीं। इसलिये उसमें विकास है, कहीं गतिरोध नहीं, सुख है- उपयोग है लेकिन शान्ति नहीं। इन दोनों के बीच में है कस्बे की आत्मा, उसकी संस्कृति- यह चौके की राण्ड की तरह है, एक ऐसी जवान विधवा की तरह जो बिना गौना गये हुए ही एकाएक राण्ड हो गयी हो और इसके आगे पीछे तमाम अंगुलियां उठ रही हों - फुसफुसाहट हो रही हो। उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है क्योंकि उसका मुंह शहर की ओर है और पीठ गांव की ओर।[1] यहां लाल का गांव के प्रति एक विशेष लगाव दृष्टिगोचर होता है और यह उनमें एक प्रकार के 'ऑब्जेक्ट -फिक्सेशन' के व्यक्तित्व का द्योतक है। मनंब जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, उनके गांव में आये दिन होनेवाले लोक-नाट्य, पारसी नाट्य व सामाजिक सांस्कृतिक उत्सव उनके व्यक्तित्व में 'लोक तत्व' के प्रति आस्था उत्पन्न करने के कारण बने। 'नाटक तोता मैना', 'सूखा सरोवर', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' और 'सगुन पंछी' उसी लोक प्रभाव की नाट्याभिव्यक्ति हैं। लोक-नाट्य-रूढ़ियों के 'सूर्यमुख' और 'सगुन पंछी' (मुखौटों के प्रयोग) में किये गये प्रयोगों का सम्बंध सूत्र गांव की वे अनगढ़ लोक प्रस्तुतियां ही हैं जिन्हें लाल ने बाल्यकाल में देखा था।

लाल बचपन से ही परिवार के मंझले सदस्य होने के नाते एक साथ उपेक्षा और रागात्मक प्रेम, दोनों पाते रहे। इसी कारण अपने अध्ययन के प्रति घर वालों की उपेक्षा के उपरान्त वे घर वालों से विरोध व्यक्त नहीं कर सके। इस सन्दर्भ में उनमें प्रतिरोधात्मक शक्तियों का म अभाव दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण वही रागात्मक धरातल है जिस पर वे खड़े थे और जिसके कारण परिवार के प्रति उनका अनन्य लगाव और समर्पण भाव था। यही कारण था कि परिवार द्वारा थोपे गये दाम्पत्य सम्बंध को उन्होंने आज्ञाकारी की तरह स्वीकार कर लिया।

परिवार के सन्दर्भ में आन्तरिक विरोध से गुजरने पर भी उन्हें दो व्यक्तियों

1-. बया का घोंसला और सांप, डा0 लक्ष्मीनारायण लाल, पृ0 39

से स्नेह मिला । प्रथम, माँ से जिनके सम्बंध में लाल स्वयं कहते हैं कि उन्हें उनसे बहुत लगाव था । माँ के हर वर्ष एक बच्चे का जन्म होता था, वह मर भी जाता था । ऐसे में माँ के साथ ये भी रो पड़ते थे । अपने भाई- बहिनों को मरते देखकर बालक-मन पर आघात होना स्वाभाविक है । मृत्यु की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन और उसका रिफलेक्शन चिन्तन के धरातल पर होना- यह लाल के बाल मन की प्रक्रिया थी । संवेदना के धरातल पर वे जैसे माँ के साथ जुड़ जाते थे । बचपन में उन्होंने टीटू नामक एक कुत्ता पाला था जिसके मर जाने पर भी वे रोये थे । यह भी संवेदना का एक धरातल था ।

परिवारिक जन के बीच स्नेह और सहयोग का जो दूसरा सूत्र है वह उनकी पत्नी श्रीमती आरती देवी से सम्बंधित है । जीवन के बहुविध संघर्षों के मध्य, उन्हीं के शब्दों में - मेरी पत्नी ने बहुत सहा है । ऐसी स्थिति में जब लाल अपने अध्ययनकाल से गुजर रहे थे, पत्नी उनके लिये बाधक नहीं, साधक रहीं । एक अन्तरंग वार्तालाप के समय उनकी पत्नी के ये शब्द उक्त तथ्य को पुष्ट करते हैं - ' वे जब पढ़ते,उस वक्त हमेशा उनके पास किताब होती थी, सो बात नहीं करते थे । पर हमें अच्छा लगता था । हम कहते- पढ़ो । उनका अलग कमरा था, उनके जाने पर वह बन्द रहता ।'[1] पत्नी के इस सहयोग को वे Nature का Process मानते हैं । यहाँ भी वे पत्नी के साथ रागात्मक धरातल पर जुड़े दिखायी देते हैं ।

लाल के व्यक्तित्व-निर्माण की यात्रा में दो प्रकार के आन्तरिक आवेग लक्ष्य किये जा सकते हैं । दोनों ही आवेग एक दूसरे को पोषित करते चलते हैं । प्रथम प्रकार का आवेग उन्हें कथा साहित्य के निर्माण की प्रेरणा दे रहा था । दूसरे प्रकार का आवेग उन्हें नाट्य-साहित्य की प्रेरणा दे रहा था । कालान्तर में लाल की आन्तरिक ऊर्जा नाट्य साहित्य के प्रति अधिक झुकती गई प्रतीत होती है जो उनके नाटकों के प्रति रुझान का द्योतक है ।

1- श्रीमती आरती देवी से अन्तरंग बातचीत ।

लाल के व्यक्तित्व-विकास में स्वप्न-जीवी होने की भी स्थिति मिलती है। वे कहते हैं - बचपन में मैं स्वप्न देखता था, कल्पना के धरातल पर मैंने द्वारिका, पुरी, बद्रीनाथ सभी स्थानों की यात्राएं कर ली थीं। अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने की यह प्रत्यावर्ती (Regressive) विधि कही जा सकती है। लेकिन इसे उनकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कहना उचित नहीं है। वस्तुत: यह प्रत्यावर्तन उनमें परिवेश या समाज के रंगों को स्वयं के 'स्व' के केनवास पर भर देने की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। कलाकार के इसी सामाजिक सन्दर्भ से जुड़े होने पर उसकी कृति विश्व- कल्याण-भावना से पोषित होती है। कलाकार की यह सामाजिकता उसके संस्कारों में गुंथे प्रजातीय दाय (Racial-heritage) को प्रबुद्ध कर सृजन का कारण बनती है। दूसरी ओर उस गति व स्पन्दन युक्त जीवन की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है। वे लिखते भी हैं - "यह यात्रा उसके लिये है जो कहीं जीवन में यात्रा करना चाहता है। गीता का वही अर्थ जानता है जो किसी युद्ध में फंसा है। पर जिसमें कोई युद्ध ही नहीं है, संघर्ष ही नहीं है, उसके लिये कृष्ण और अर्जुन सिर्फ एक कथा-कहानी है, बांसुरी एक बाजा है और रासलीला एक नाच।"[1] मानसिक धरातल पर उपर्युक्त बोध उनके परिवार, गांव और वहां के आसपास के धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश की देन है। ये ही वे संस्कार हैं जो लाल के जीवन-दर्शन को केवल अतीत के सूत्र से ही नहीं प्रत्युत पूर्व जन्म से भी श्रृंखला-बद्ध करते हैं। वे कहते भी हैं - "मैं पूर्व जन्म में कुछ था, कहीं कुछ था, किसी बड़ी जगह से आया था जिससे आज यह बन पाया।"[2] यही कारण है कि उनके साहित्य विशेषकर उपन्यास के पात्र किसी भी कार्य को आन्तरिक शक्ति के कारण प्रेरित होकर करते हैं। लगता है, उनसे कोई करा रहा है, वे स्वयं नहीं कर रहे हैं। 'मन वृन्दावन' का सुबन्धु इसीलिए किसी के द्वारा सहज खिंचा हुआ ब्रजयात्रा किये जा रहा है, 'रूपाजीवा' का सूरज इसीलिए गोरेमल के अत्याचारों से पीड़ित हो किसी अविकल्प शक्ति की प्रेरणा पाकर उससे विद्रोह कर पड़ता है, 'वसन्त की प्रतीक्षा' की मीनाक्षी इसी शक्ति से खिंची शहर से गांव की ओर दौड़ पड़ती है, 'श्रृंगार' की पेरिन अपने प्रिय

1- मन वृन्दावन- डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 115

2- लाल से साक्षात्कार।

की ओर दौड़ पड़ती है और 'देवीना' की नायिका उसी शक्ति की प्रेरणा से जीवन-सत्य की खोज में संसार में भटकती फिरती है। यह बोध प्रजातीय है जो लाल के व्यक्तित्व में प्रारम्भ से ही देखने को मिलता है। वस्तुत: लाल के साहित्य में संस्कारों और धारणाओं की भीड़ देखने को मिलती है जो उनकी कल्पना का व्यवस्थित रूपायन करती है एवं कलात्मक अभिव्यंजना के लिये सामग्री देती है।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से प्रारम्भ सामाजिक परिवर्तनों की दिशा और व्यक्तित्व निर्माण में प्रभाव :

हमारी सामाजिक व्यवस्था दो रूपों में अपना विस्तार करती है। प्रथम, स्वयं में निहित परम्परायें जो समाज को विरासत में प्राप्त होती हैं और जिनके द्वारा सामाजिक मूल्यों की आचार-संहिता का निर्माण होता है। द्वितीय, समकालीन पर्यावरण जो सामाजिक विकास को गति प्रदान करता है। परम्परायें जो शाश्वत सामाजिक मूल्यों का निर्माण करती हैं, समकालीन व्यवस्था के साथ युक्त होकर ही सामाजिक परिवर्तन के जन्म का कारण बनती हैं। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में जिस व्यापक सामाजिक परिवर्तन ने जन्म लिया था वह उक्त कारणों के द्वारा ही परिचालित था। लाल के व्यक्तित्व के विकास को लक्ष्य करने के लिये सामाजिक परिवर्तन के तत्कालीन स्वरूप पर दृष्टिपात करना अत्यावश्यक है। परिवर्तन के साथ ही व्यक्तित्व निर्माण सम्भावनायें जुड़ी होती हैं।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त और तत्कालीन (1927-1954) परिस्थितियाँ :

(1) राजनीतिक :

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों से ही सामाजिक परिवर्तन की भूमिका बनने लगी थी। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष की विभीषिका के मध्य जीवन का चतुर्दिक विकास हो रहा था। विकास की इस प्रक्रिया को समझने के लिये समाज शास्त्रियों की तत्सम्बंधी मान्यताओं पर एक दृष्टि डालना समीचीन होगा।

सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री बर्टेण्ड रसेल ने लिखा है कि मनुष्य के जीवन को नित्य प्रति विकासशील बनाये रखने में निश्चित उद्देश्य की अपेक्षा आवेग की मुख्य भूमिका रहती है। मनुष्य में इस आवेग के दो रूप होते हैं। प्रथम, स्वामित्व का आवेग और द्वितीय, सृजन का आवेग। प्रथम प्रकार का आवेग ऐसी वस्तु को प्राप्त करने और उस पर अधिकार बनाये रखने का होता है जिसके उपभोग में किसी अन्य को संयुक्त नहीं किया जा सके। द्वितीय प्रकार के आवेग में ऐसी वस्तु के उपभोग के अवसर प्रदान करने की स्वतंत्रता होती है जिस पर किसी का निजी स्वामित्व न हो।[1]

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से लेकर स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों का अंकन किया जाय तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि जहां राष्ट्रीय स्तर पर हमारा सामाजिक विकास सृजनात्मक आवेग से संचालित हो रहा था वहां अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वामित्व का आवेग सामाजिक परिवर्तन को निर्धारित कर रहा था। सर्वप्रथम राष्ट्रीय स्तर पर विकास की प्रक्रिया को लक्ष्य कर लेना उचित होगा।

राजनीतिक स्तर पर सृजनात्मक आवेग की अभिव्यक्ति तत्कालीन परिस्थितियों में महात्मा गांधी द्वारा किये जा रहे प्रयत्नों के रूप में देखी जा सकती है। कांग्रेस के राजनीतिक मंच पर एक महत्वपूर्ण निकाय के रूप में उदित होने का यही युग था। सन् 1927 में सायमन कमीशन का बहिष्कार करने के बाद औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने हेतु सन् 1928 में जो नेहरू- रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, वह जैसे भारतीय स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र था। अंग्रेज सरकार द्वारा इस मांग की अवहेलना ने सन् 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य का नारा बुलन्द करने को बाध्य कर दिया था। यह सब मुख्य रूप से उस दिशा की ओर प्रयाण था जिसकी उपलब्धि में

1- देखिये- सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त-बर्ट्रेण्ड रसेल(अनु0मुनीश सक्सेना) पृ0 13

में किसी निजी स्वामित्व का उद्घाटन नहीं था प्रत्युत संपूर्ण राष्ट्र को स्वतंत्रता नाम का ऐसा भाव देने का प्रयास था जो सभी के लिये उपभोग्य था। पूर्ण ~~स्वतंत्रता~~ स्वराज्य के प्रस्ताव के पश्चात स्वतंत्रता की प्राप्ति तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के तीन दशकों का इतिहास सृजनात्मक आवेग की अभिव्यक्ति का इतिहास है। सन् 1930 का नमक कानून विरोधी आन्दोलन, सन् 1931 में भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को दिया गया मृत्युदण्ड, सन् 1935 के इंडिया एक्ट के अनुसार हुए चुनावों में केन्द्र और प्रान्त की धारा-सभाओं में कांग्रेस का विशाल बहुमत, द्वितीय विश्वयुद्ध कालीन परिस्थितियों के मध्य आठ अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रस्ताव और इस बीच जापान पहुंचकर सुभाषचन्द्र बोस द्वारा 'अस्थायी स्वतंत्र भारत सरकार' और 'आजाद हिन्द फौज का गठन सृजनात्मक आवेग को दर्शाने वाली प्रमुख घटनाएं हैं। स्वतंत्रता के तत्काल बाद इस आवेग की सशक्त अभिव्यक्ति सन् 1950 में संपन्न राष्ट्रीय संविधान की रचना और उसके द्वारा भारत वर्ष को सार्वभौम गणराज्य की संज्ञा देने के रूप में हुई। इसी का शुभ परिणाम श्री वल्लभभाई पटेल द्वारा स्वतंत्र देशी राज्यों के एकीकरण के रूप में संभव हुआ।

राष्ट्र के सामाजिक पुनर्निर्माण का यह एक पक्ष है दूसरा पक्ष वह है जो स्वामित्व के आवेग की अभिव्यक्ति करता है। स्वामित्व का यह आवेग मनुष्य में ध्वंसात्मक वृत्तियों को जन्म देता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों की भूमिका और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां इस आवेग को ही अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। इसीलिये, भारत के राजनीतिक मंच पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिये वे भारतीय राजनीति को भारत की ही सामाजिक, राजनीतिक कमजोरियों से तोड़ने लगे। सन् 1935 के इंडिया ऐक्ट के अनुसार प्रान्तों में अनेक स्थानों पर दो धारा-सभाओं (विधान सभा और विधान परिषद) की व्यवस्था की गई थी। यह उन अनेक जमींदारों को प्रतिनिधित्व दिये जाने के उद्देश्य से की गयी व्यवस्था थी जो अंग्रेजों का इस देश में बने रहना अपने हित में समझते थे। इसी ऐक्ट में मतदाताओं के अठारह वर्गों की भी व्यवस्था थी। जिसके विभाजन का आधार

साम्प्रदायिकता थी । 23 दिसम्बर 1939 को वायसराय लिनलिथगो द्वारा जिन्ना को मुस्लिम अधिकारों की रक्षा के लिये एक पत्र लिखा गया था जो अँग्रेजों की मुस्लिम-सन्तुष्टिकरण नीति का परिणाम था । सन् 1940 के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की माँग किया जाना साम्प्रदायिकता के उस बीज को बोना था जिसका विष-वृक्ष आज फलता-फूलता देखने में आता है । इसी समय हिन्दू महासभा भी दो राष्ट्र नीति की घोषणा कर चुकी थी । इस पृष्ठभूमि से उत्पन्न परिस्थितियों ने स्वतंत्रता के पश्चात् जिन साम्प्रदायिक दंगों को जन्म दिया, उनसे राष्ट्र की भावात्मक एकता और जनमानस पर पड़े कुप्रभावों से हम अपरिचित नहीं हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तो स्वामित्व का दंश अधिक गहरा धंस चुका था । अँग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियाँ भारत में अनेक काले कानून लेकर प्रकट हो रही थीं। इसकी सशक्त अभिव्यक्ति सन् 1917 के रोलट-ऐक्ट से हुई थी जिसके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध दमन का कानून बनाना था । ऐसा ही प्रयास भारत के अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में पूर्ण दमन केसाथ चल रहा था ।

सन् 1939 में पोलैण्ड की सुरक्षा के प्रश्न पर द्वितीय विश्वयुद्ध उठ खड़ा हुआ । साम्राज्यवादी शक्तियाँ विश्व नियन्ता बनने के लिये कटिबद्ध हो उठीं । विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया । इस युद्ध ने मानवता, प्रेम और अहिंसा के उन सभी मानदण्डों को धूल-धूसरित कर दिया जो सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में सच्चे प्रेरक सिद्ध हो सकते थे । परिणाम यह हुआ कि युद्ध और उसमें प्रच्छन्न स्वामित्व के आवेग ने युद्धोत्तर मानव मूल्यों को अन्धे कुँए में जा पटका । युद्धोत्तर विश्व एक ओर अकाल और भुखमरी का शिकार हुआ वहीं आन्तरिक रूप से मनुष्य को इस युद्ध की विभीषिका ने निगलना प्रारम्भ कर दिया । मानव का क्रूर रूप अब सामने आ चुका था और उसे अपनी क्षुद्रता का अनुभव हो चुका था । ये ही अनुभूतियाँ विविध कला माध्यमों द्वारा मुखर होने लगीं ।

(2) सामाजिक और सांस्कृतिक :

सामाजिक परिवर्तन के सृजनात्मक और स्वामित्व परक आवेगों को इस शताब्दी के तीसरे दशक से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत तक की सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में परखा जाय तो ज्ञात होता है कि जन सन सामान्य प्रारंभ से ही स्वतंत्रता के स्वप्न देख रहा था और उसे साकार करने को प्रयत्नशील था। इस स्वतंत्रता का तात्पर्य केवल राजनीतिक स्तर पर स्वतंत्रता से ही नहीं था प्रत्युत सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय समाज में एक व्यापक परिवर्तन से था। जिसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति विकास के अवसर प्राप्त कर सके। यह एक सृजनात्मक चेतना थी जो आलोच्यकाल में विकासशील थी।

सामाजिक संगठन को सुदृढ़ आधार देनेवाली शक्ति है नारी लेकिन बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सामान्य भारतीय नारी की स्थिति दयनीय थी। उसके उत्थान की दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती आदि द्वारा जो प्रयत्न हुए, वे भी जैसे उन्हीं के साथ समाप्त हो गये। इसका मुख्य कारण था स्वयं नारी द्वारा अपने को समाज में दूसरे स्तर पर मानने की परम्परागत स्वीकृति। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से इस दिशा में विशेष ध्यान दिया गया। सन् 1930 में शारदा-ऐक्ट द्वारा बाल-विवाह निरोधक कानून, विधवा विवाह आदि के साथ-साथ महिला शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया गया। सन् 1929-32 में नारी चेतना सजग रूप से सामने आयी जब महिलाओं ने मताधिकार की मांग की। फलस्वरूप सन् 1935 के इंडिया ऐक्ट के अनुसार पचास लाख स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हुआ। यही नहीं, सन् 1937 तक प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं और केन्द्रीय ~~व्यवर्~~ व्यवस्थापिका सभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या अस्सी तक पहुंच गई जिनमें से कतिपय महिलाएं मंत्री स्तर तक पहुंची थीं।[1] सन् 1949 के राउ कमेटी के विधेयक के अनुसार पत्नी व पुत्री

1- देखिए- आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिंदी साहित्य- कृष्ण बिहारी मिश्र-पृ0 231

को स्वयं की संपत्ति पर अधिकार और पिता की संपत्ति में साझेदारी सम्बंधी प्रस्ताव भी रखे गये थे। इसी के अंतर्गत स्त्री को तलाक व गोद लेने जैसे क्रांतिकारी अधिकार भी दिये गये थे। ये सभी प्रस्ताव सन् 1952 तक पारित हो चुके थे।[1]

सामाजिक परिवर्तन की दिशा में महात्मा गांधी के प्रयासों को भी विस्तृत नहीं किया जा सकता। सामाजिक व सांस्कृतिक सौहार्द की दिशा में स्वयं आगे बढ़कर उन्होंने एक ओर समाज के अस्पृश्य वर्ग को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर समाज की विजातीय मूल वाली संस्कृतियों को समान धरातल पर खड़े होकर जीना सिखाया।

सन् 1932 में अस्पृश्यों की पृथक निर्वाचन व्यवस्था को लेकर सरकार को महात्मा गांधी के उग्र विरोध का सामना करना पड़ा। इस व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप गांधी जी ने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। अछूतों को 'हरिजन' नाम गांधी जी का ही दिया गया है। गांधी जी की अस्पृश्यता नीति ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान को भी प्रभावित किया। संविधान की पन्द्रहवीं धारा में अछूतों को सवर्ण के समान अधिकार प्रदान किये गये और सत्रहवीं धारा के अनुसार अस्पृश्यता की समाप्ति की गई।[2]

सृजनात्मक आवेग की दिशा में दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी सम्प्रदाय-वाद का उन्मूलन। इस संप्रदाय वाद की नींव बंग-भंग से ही पड़ चुकी थी। इसके अनुसार मुस्लिम-बाहुल्य का प्रदेश हिन्दू बहुल प्रदेश से विभक्त कर दिया गया था। इसी के ठीक एक वर्ष बाद सन् 1906 में संप्रदायिक द्वेष फैलाने के लिए मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसी वर्ष मार्लो-मिण्टो सुधार में पृथक प्रतिनिधित्व के

1- देखिए- आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य- कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 233

2- वही- पृ0 234

सिद्धान्त की घोषणा की गई जो हिन्दू मुस्लिम सद्भाव को सीधी चुनौती थी। कालान्तर में जब सन् 1925 में हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे हिन्दू समर्थित संगठन प्रारंभ हो गये तो साम्प्रदायिक वैमनस्य मुखर होकर सामने आया। इस पर अँग्रेजों की कूटनीति वश बीसवीं शताब्दी के प्रर प्रारम्भ में ही हिन्दू-मुस्लिम के मध्य के सौहार्द्रपूर्ण सम्बंध समाप्त हो गये। सन् 1947 में पाकिस्तान के निर्माण के साथ तो यह साम्प्रदायिक वैमनस्य हिंसा और ध्वंस की सीमा तक पहुंच गया। महात्मा गांधी ने इस कटुता को समाप्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया किन्तु जैसे उनके प्रयत्न किसी ठोस सामाजिक परिवर्तन को जन्म नहीं दे सके। इस दृष्टि से सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में साम्प्रदायिक चेतना का उदय स्वामित्व के आवेग का परिणाम है।

तीसरे दशक तक भारत में शिक्षा के प्रति जन-साधारण में एक सृजनात्मक चेतना का प्रसार-प्रचार हो रहा था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और इस उस्मानिया विश्वविद्यालय इस समय देश के प्रतिनिधि शिक्षा-संस्थान थे। इनके अतिरिक्त गुजरात विद्यापीठ-अहमदाबाद, जामिया मिलिया, इस्लामिया, दिल्ली, महिला विद्यापीठ, आगरा भी कार्य कर रही थीं। काशी का एशियायी शिक्षक सम्मेलन (1930) शिक्षा जगत की तत्कालीन महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। सन् 1937 में ग्रामीण शिक्षा के प्रसार के लिये गांधी जी ने बेसिक शिक्षा का कार्यक्रम दिया जो स्वदेशी आन्दोलन की नींव पर आधारित था। इस शिक्षा-पद्धति ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में एक रचनात्मक भूमिका अपनायी। शिक्षा का क्षेत्र व्यापक बनाने के लिये सन् 1944 में एक योजना सामने आयी थी जिसे सार्जेण्ट-योजना कहा जा सकता है। शिक्षा सम्बंधी सुझाव देने और शिक्षा प्रसार हेतु अनुदान देने के लिए सन् 1948 में वि0 वि0 शिक्षा कमीशन का गठन हुआ जो बाद में वि0 वि0 अनुदान आयोग के नाम से जाना गया।

उपर्युक्त सामाजिक परिस्थितियों पर समग्र दृष्टि डालने से स्पष्ट हो-जा होता है कि इस दिशा में राष्ट्र सृजनात्मक आवेग से गुजर रहा था। यही क्रमिकरूप

में सामाजिक संक्रमण का कारण बना । यहाँ यह भी तथ्य समान रूप से महत्वपूर्ण है कि जिस रूप में राष्ट्र सामाजिक परिवर्तनों की ओर बढ़ रहा था, वहीं वह राष्ट्रीयता के मूल्यों से संपोषित था । अस्पृश्यता उन्मूलन, साम्प्रदायिक सौमनस्य का प्रयत्न बेसिक शिक्षा पद्धति आदि के पीछे एक भारतीय मनीषा कार्य कर रही थी ।

(3) साहित्यिक :

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से हमारे देश में व्यापक राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए थे । इन प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य था राष्ट्रीय जागरण । सन् 1925 में कानपुर अधिवेशन से अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का अस्तित्व में आना राष्ट्र में वामपंथी गतिविधियों का सक्रिय होना था । साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना के जागरण को इससे भी पर्याप्त बल मिला ।

इस जन जागरण का प्रभाव निश्चय ही हमारे सामाजिक जीवन मूल्यों पर पड़ा । साहित्य पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत गहरा था । यह स्वाभाविक भी है क्योंकि साहित्य में सामाजिक अभिव्यक्ति का स्थान महत्वपूर्ण होता है । इसी कारण हमारा साहित्य भी छायावादी कोहरे से हटकर यथार्थ जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति देने लगा । वह यथार्थ जीवन में प्राप्त निराशावाद से पलायन की कायरता का त्याग कर जीवन संघर्षों के मध्य अपना मार्ग खोजने लगा । यह जीवन संघर्ष ही उसे जीवन में आस्थावादी होने की प्रेरणा देने वाला सिद्ध हुआ ।

उस युग में चेतना की जो लहर दौड़ी, उसमें छिपी हुई एक संगठित शक्ति का प्रभाव सन्निविष्ट था । राजनीतिक स्तर पर जागरण की यह प्रेरणा अखिल भारतीय कांग्रेस दे रही थी । और सामाजिक स्तर पर समाज सुधार आन्दोलन की अनेक संस्थाएं । तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति 'संस्थानिक स्तर पर थी, वैयक्तिक स्तर पर नहीं । साहित्य में भी यही हुआ । अब तक भारतेन्दु और प्रसाद युग में साहित्य सृजन के जो प्रयत्न हुए थे वे 'संस्थानिक'

नहीं कहे जा सकते थे। मुख्यत: इन युगों के सभी सृजनशील साहित्यकारों में भारतेन्दु और प्रसाद का ही व्यक्तित्व बोलता था। आलोच्यकाल में यह कार्य संस्था के रूप में हुआ जिसका परिणाम सन् 1936 में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ, में स्थापित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के रूप में सामने आया। इस काल में लिखा गया साहित्य ऐसे समाज का साहित्य कहा जा सकता जिसमें रचनाकार को अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य नहीं था। कारण, तत्कालीन शासन की अपनी प्रजा के प्रति अनुदार भावना थी। ऐसे में अभिव्यक्ति का कोई भी रास्ता एक आन्दोलन के रूप में ही खोजा जा सकता था। प्रगतिशील जीवन मूल्यों को लेकर रचा गया तत्कालीन साहित्य इसीलिए अपने समवेत स्वर में स्वतंत्रता और लोकतंत्रीय अभिव्यक्ति का कारण बना। उपन्यास के क्षेत्र में 'गोदान', कहानी के क्षेत्र में 'पिंजरे की उड़ान' जैसे सशक्त कहानी संग्रह, कविता के क्षेत्र में 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' और नाटक के क्षेत्र में संपूर्ण समस्यामूलक नाट्य साहित्य इस चेतना के बोधक कहे जा सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में जैसे- जैसे राष्ट्रीय चेतना का स्वर मुखर होने लगा वैसे वैसे हमारा साहित्य अपनी अभिव्यक्ति में तीक्ष्ण होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमारी चेतना विशेषकर अपनी सामाजिक समस्याओं के इर्द-गिर्द घूमती रही। इसका कारण उस समय चल रहे ब्रह्म समाज और आर्य समाज के सामाजिक आन्दोलन थे। फलस्वरूप 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेरनगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सती प्रताप' जैसा साहित्य विपुल मात्रा में लिखा गया। प्रसाद जी के युग तक गांधी जी का भारतीय राजनीति रंगमंच पर उदय हो चुका था। उन्होंने राष्ट्र को स्वकीय गौरव और परम्परा का बोध करा, अपनी अस्मिता की रक्षा का सन्देश दिया था। फलत: समस्त राष्ट्र अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रति जागरूक हुआ। प्रसाद जी के साहित्य में उसी गौरव की अभिव्यक्ति है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अपनी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परंपराओं को देखने का भी वहां प्रयत्न है। प्रसादोत्तर युग तक राष्ट्र स्वतंत्रता के लगभग समीप पहुंच रहा था। विश्व युद्ध की परिस्थितियों ने राष्ट्रीय जनमानस में लोकतंत्र और मानवीय अधिकारों के प्रति नयी चेतना जागृत कर दी थी। अन्तत: यह युद्ध भी तो इन्हीं उद्देश्यों की रक्षार्थ लड़ा जा रहा था। तत्कालीन साहित्य में यही चेतना अपनी

पूरी शक्ति के साथ मुखर होकर होकर सामने आई।

प्रसादोत्तर युग का ही दूसरा चरण था प्रयोगवादी साहित्य जिसका प्रारम्भ सन् 1943 में अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित तार सप्तक से माना जा सकता है। इस नये काव्यान्दोलन में साहित्यिक मूल्यों को जबर्दस्त झटका लगा था। सन् 1947 में भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता मिल चुकी थी किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर जैसे मनुष्य अपनी ही टूटन, संत्रास और अकेलेपन में कैद हो गया था। कारण, युद्धोत्तर परिस्थितियाँ थीं। निर्धनता, अकाल, साम्प्रदायिकता और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की युद्धोत्तर परिस्थितियों ने व्यक्ति को अन्दर-बाहर जैसे मनुष्य होने की निरर्थकता का बोध करा दिया था। मनुष्य के 'मूल्य' के अवमूल्यन को लाल के उपन्यास 'रूपाजीवा' में द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व के 'बड़े रूपये', युद्धकाल के 'छोटे रूपये' और युद्धोत्तर 'पीली दुअन्नी' के प्रतीक द्वारा स्पष्ट किया है। मूल्यों के ध्वस्त होने का मुख्य कारण वह युद्ध था जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर हमने कुछ पाने के लिए लड़ा था। इस युद्ध के पश्चात् आम आदमी को निराशा ही मिली। इसकी प्रतिक्रिया दो धरातलों पर भिन्न भिन्न रूपों में हुई। साधारण आदमी में स्वतंत्रता के युद्ध में दिखाये गये ओज का यह निरर्थक फल देखकर विद्रोह जागा और इस प्रकार आन्तरिक स्तर पर वह युद्ध के आवेग में जलने लगा। दूसरी ओर, आम आदमी की तुलना में बौद्धिक जन की निराशा अपेक्षाकृत सृजनात्मक आवेग से परिचालित हो रही थी और वह विश्वयुद्ध और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बाद की परिस्थितियों के मध्य पुन: आस्थाओं की खोज करने लगा। स्वतंत्रता के बाद हुए मोह भंग का यह प्रभाव अज्ञेय जी के शब्दों में इस प्रकार देखा जा सकता है - 'मोह भंग का एक रूप यह होता है कि सन् 48 में हमें जो मिला वह वास्तव में आजादी नहीं थी। अंग्रेजों से आजाद होकर भी हम एक आजाद समाज की स्थापना नहीं कर सके हैं। इस मोह भंग में आक्रोश की गुंजाइश भी है, कर्म-प्रेरणा भी है कि अगर वह आजादी नहीं मिली जो हमें चाहिये तो हम उस अपनी सही आजादी के लिये प्रयत्न करें। लेकिन यही मोह भंग दूसरी भी प्रतिक्रिया पैदा कर सकता है- आजादी को ही धोखा मान सकता

है। सभी प्रयत्नों को व्यर्थ मान सकता है। सभी स्वाधीनता कर्मियों को पाखंडी मान सकता है। सभी प्रयत्नों को व्यर्थ मान सकता है। आक्रोश की गुंजायश इसमें भी रहती है पर कोई कर्म प्रेरणा इसमें नहीं रहती क्योंकि यह उदासीनता कर्म मात्र को निरर्थक मान लेती है।[1]

बौद्धिक की यह कर्म प्रेरित आशा और निराशा तत्कालीन साहित्य में अभिव्यक्ति पाने लगी। साहित्यिक मूल्यों की दिशा में यह एक संक्रमण था जिसके मध्य गुजरता रचनाकार दो दिशाओं में बंट गया। एक तरफ नयी कविता जो प्रयोग के धरातल को फोड़कर समक्ष आयी और जिसमें समकालीन मनुष्य के जीवन की विसंगतियों का चित्रण हुआ और व्यक्तिगत स्तर पर ही उनका समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया। दूसरी ओर, टूटते जीवन प्रसंगों की यह अभिव्यक्ति सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को लेकर और सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्ति की समस्याओं द्वारा भी हुई जिसका प्रतिनिधित्व किया स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने।

साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन का रचनाशील-व्यक्तित्व के मूल्य-निर्धारण पर प्रभाव :

साहित्यकार अपने परिवेश से सर्वाधिक जुड़ा होता है। इसीलिए उसे समाज का पुरोधा कहा जाता है। रचनाशील व्यक्तित्व समसामयिक मूल्य परिवर्तन से बहुत प्रभावित होता है। आलोच्य काल में लोकतंत्र व मानव अधिकारों के प्रति साहित्यकार को जागरूकता एवं यथार्थोन्मुखता ने विकासशील व्यक्तित्व को किस प्रकार प्रभावित किया- यह आकलन लाल की सन् 1954 तक की साहित्यिक उपलब्धियों को लक्ष्य कर किया जा सकता है। लाल की साहित्यिक चेतना का प्रारम्भ सन् 1945 से माना जा सकता है जब वे बस्ती की एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल में अध्ययन कर रहे थे। इस समय की एक घटना उनके विकासशील साहित्यिक(नाट्य सम्बंधी) रुचियों का आभास देती है। एंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल के तत्कालीन आचार्य श्री बी० एम० चक्रवर्ती जन्माष्टमी के अवसर पर नाटक का कार्यक्रम करानेवाले थे। विडम्बना यह कि उन्हें

1- जोग लिखी-ही०वा० 'अज्ञेय' पृष्ठ 41

अपने नाटक के लिये पात्र नहीं मिल रहे थे। प्रिन्सीपाल साहब का निश्चय भी अटल था। अन्ततः स्कूल को चुनौती देते हुए वे अपनी तीन युवा पुत्रियों के साथ मंच पर उतरे और नाटक कर दिया। लाल की नाटक के प्रति आस्था व रुचि जगाने में यह घटना एक कारक सिद्ध हुई।

सन् 1954 से तक उनके एकांकी संग्रह 'ताजमहल के आंसू' और 'पर्वत के पीछे' एवं शोध प्रबंध 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' प्रकाश में आ चुका था। यही समय उनके प्रथम संपूर्ण नाटक 'अन्धा कुआ' का भी है। 'ताजमहल के आंसू' को हम मानवीय संवेदना और पीड़ा की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस संग्रह के एकांकी संवेदनापूर्ण धरातल के साथ-साथ रोमानीपन भ की भी सृष्टि करते हैं।

तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिवेश में लोकतंत्र और मानव-अधिकारों की जो अभिव्यक्ति क्रमशः औपनिवेशिक स्वराज्य के अंत, सामाजिक समानता और स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुस्लिम, निर्धन-श्रीमन्त अधिकारों की व्याख्या के रूप में हुई थी, उनका साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उपन्यास, कहानी और नाटकों द्वारा इनकी अभिव्यक्ति सशक्त रूप में हुई। लाल जैसे नाटककारों पर इन मूल्यों का प्रभाव उनके द्वारा रचित 'अन्धा कुआं' (1955) नाटक में देखा जा सकता है। नाटक का मूल स्वर 'सूका' जैसी उन अनेक भारतीय नारियों की समस्याओं को समक्ष रखना है जो सामाजिक जीवन में अपने पति द्वारा अमानुषिक अत्याचारों का शिकार होती हैं। मानवीय स्तर पर इस समस्या को उठाकर लाल ने नारी के जीवन में लोकतंत्र, स्वतंत्रता और अधिकार के उन मूल्यों की ओर ध्यानाकर्षण किया है जिन्हें उस समय के साहित्य में स्वीकार किया गया था- इस ओर 'अन्धा कुआ' की यह स्थापना द्रष्टव्य है - 'ग्रामीण सामाजिकता के यथार्थतम धरातल से यहां इतना करुण और मानवीय चित्र उपस्थित हुआ है कि जिसकी संवेदना से सारा मन रंग उठता है। कमालपुर गांव, वहां की पूरी सामाजिकता, उस गांव की अनुपम सूका, उसका पति भगौती और उस जीवन्त धरती का अन्धा कुआ तथा उस कुएं की सूनी जगत के चारों ओर का जीवन इस

नाटक के करुणतम संगीत के अद्भुत बोल हैं। पराजित मगौती के चरित्र की आँधी, सूकी के मन की वेदना और उस नारी की यातना हमारे अन्तस को जिस रूप में स्पर्श करती है, वह वास्तव में अद्वितीय है।[1] सामाजिकता का यह यथार्थ धरातल स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की वह दूसरी दिशा है जिसकी ओर हमारे नाटककार अग्रसर हुए थे। नाटक की यह सामाजिक प्रकृति रचनाकारों की की 'संस्थानिक (Instituitionalised) प्रवृत्ति का द्योतक है। निसंदेह लाल ने 'अन्धा कुँआ' जैसे नाटक के माध्यम से उसी भारतीय संस्कृति और सामाजिक मूल्यों वाली परंपरा के एक कोण पर अपनी दृष्टि डाली है। यह परंपरा पूर्ववर्ती रचनाकारों (प्रसाद जी प्रभृति) से विरासत में प्राप्त हुई थी।

साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन की दिशाएं :

उपर्युक्त परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन की प्रथम दिशा साम्यवादी आन्दोलन के प्रति तत्कालीन साहित्यकारों के रुझान के रूप में लक्ष्य की जा सकती है। प्रसादोत्तर साहित्य में यह प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। एक ओर, श्री केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रामविलास शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन' त्रिलोचन शास्त्री प्रभृति विशुद्ध साम्यवादी साहित्य लेकर समक्ष आये तो दूसरी ओर अपेक्षाकृत विशाल दृष्टिफलक पर प्रगतिशील विचारधारा को लेकर दिनकर, द्विवेदी, गुप्त आदि ने अपनी सृजनात्मकता का परिचय दिया। इसी समय समस्यामूलक नाटक भी लिखे गये जो देश के ऐतिहासिक व सांस्कृतिक गौरव के निदर्शन के साथ जागरण का सन्देश प्रदान करनेवाले थे। इस प्रकार की सर्जनात्मकता का नवोदित साहित्यकारों पर यह प्रभाव पड़ा कि उनमें अपने चारों ओर की परिस्थितियों की समालोचना राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में करने की दृष्टि प्राप्त हुई। लाल के सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में जो व्यापक तुलना परक आलोचना देखने को मिलती है, वह उक्त व्यापक समालोचना सन्दर्भों के कारण ही है।

1- अन्धा कुँआ- कवर पृष्ठ से।

तत्कालीन परिस्थितियों में साहित्यिक मूल्यों के पीछे दो विरोधी प्रभाव और भी कार्य कर रहे थे। इनसे परवर्ती साहित्यकारों के व्यक्तित्व निर्माण में पर्याप्त सहायता मिली। पहला प्रभाव था पश्चिमीकरण या आधुनिकीकरण का और दूसरा प्रभाव था, इस प्रथम प्रकार के प्रभाव से सर्वथा विपरीत संस्कृतीकरण का। इन विरोधी प्रभावों के मध्य लाल को अपने व्यक्तित्व-विकास के अनेक आयाम प्राप्त हुए।

पश्चिमीकरण या आधुनिकीकरण अंश-अंशी रूप से एक ही हैं। वस्तुत: आधुनिकीकरण में ही पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का समावेश हो जाता है। इस आधुनिकीकरण में न केवल अमेरिका, ब्रिटेन या फ्रांस से आकर पड़नेवाले प्रभाव हैं प्रत्युत जापान, चीन या रूस के भी प्रभाव हो सकते हैं। इस दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि हमारे देश ने पश्चिम के दो सौ वर्षों के अंतरंग परिचय से दो प्रकार के प्रभाव ग्रहण किये- अनुकरण और विरोध।[1] आलोच्य युग में हमारे राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन प्रसंगों में ये ही विरोधी प्रभाव पड़े। साहित्य पर इस प्रभाव को अनुकरण के परिप्रेक्ष्य में हमने ऊपर देखा है। दूसरी ओर, पश्चिमीकरण अथवा अपने व्यापक अर्थ में आधुनिकीकरण के हमारे साहित्यकार पर पड़े प्रभाव का दूसरा रूप यह भी था कि उसने सांस्कृतिक या राजनीतिक स्तर पर पश्चिम को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। साहित्यकार अनेक विदेशी प्रभावों के उपरान्त अपनी आत्मा में भारत की सांस्कृतिक अस्मिता को संजोये रहा। तत्कालीन उपन्यास, नाटक और काव्य में यह भारतीयता देखी जा सकती है। प्रसाद और प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में भारतीय संस्कृति और राष्ट्र-प्रेम के जो अनेक उद्गार प्रकट हुए हैं, वे नाटककारों की भारतीयता के द्योतक हैं। उपन्यास और कहानी में भी यही सांस्कृतिक प्रभाव देखने को मिलता है। इस युग के पारसी नाटकों में चकाचौंध भरे बहर-तबील छन्दों में सराबोर सम्वादों की आत्मा में वही राष्ट्रीय व सांस्कृतिक गौरव को लक्ष्य किया

1- देखिये- आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन-एम०एन०श्रीनिवास- (अनु० नेमिचन्द्र जैन) पृ० 64

-- जा सकता है । पारसी नाटकों की इस आत्मा से इन शब्दों में पहिचान करायी गई है- ऐसी परिस्थिति में पारसी थियेटर को दोधारी तलवार पर चलना पड़ा । हिन्दी भाषी क्षेत्र की जनता की भावना का खयाल और अंग्रेज हुकूमत से भय । इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियों का हल पारसी थियेटर ने ढूंढ निकाला । राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना पर इश्क, मेलोड्रामा, रोमानियत का चरक रंग चढ़ा देना । इसके बाद भी यदि कहीं राष्ट्रीय चेतना, भारत का गौरव, स्वदेश-भावना, हिन्दुत्व दिखे तो उसे अजीबोगरीब सीन- सीनरियों, चमत्कारपूर्ण रंगमंचीय करिश्मों में इस तरह ढंक दिया जाय कि दर्शक उसी बाह्य से चमत्कृत रह जाय और इसके ऊपर गाने, रक्स, नाच वगैरह की चाशनी में सब कुछ अजीब ढंग से मीठा-मीठा कर दिया जाय ।[1] इस प्रकार राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का कोई न कोई उपाय पारसी नाटक कारों ने निकाल ही लिया था । एक स्थान पर आगाहश्र संकेत भी करते हैं - 'कह गयी रंग में सारा मतलब । खूब समझा मैं तुम्हारा मतलब ।।[2] कहीं- कहीं यह जागरण, सन्देश मुखर भी उठा है - 'गाफिल पड़े सोते हुए, बैठे हुए जो मौन हैं । समझें तो दिल में जान लें भारत निवासी कौन हैं । जो वीर थे कायर बने, ज्ञानी बने अज्ञान हैं । यह भी तो हैं भूले हुए किस बाप की सन्तान हैं ?[3]

अपने ग्रन्थ 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' में एम0 एन0 श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के सम्बंध में विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया है कि कोई भी परिवर्तन आधुनिकीकरण की ही प्रक्रिया का परिणाम है - इसकी क्या पहिचान हो ? इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि उस परिवर्तन विशेष में यदि लक्ष्यों की बुद्धि संगति है तो वह आधुनिकीकरण का परिणाम होगा अन्यथा नहीं । तत्कालीन भारतवर्ष में

1- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-डा0 लक्ष्मीनारायण लाल-पृ0 42

2- असीरे हिर्स-आगाहश्र-

3- महाभारत- नारायणप्रसाद 'बेताब'

राजनीतिक, सामाजिक और साहित्य के क्षेत्र में अनुकरण और विरोध (जिनका विवेचन ऊपर किया गया), दो विरुद्ध प्रवृत्तियाँ थीं। इनमें अनुकरण का मार्ग भारतीयों ने केवल फैशन और कुछ नया करने की सहज मानव प्रवृत्ति के कारण अपनाया। जहाँ तक राजनीतिक धरातल पर अनुकरण का प्रश्न है - अन्यान्य देशों के उदाहरण ग्रहण करने से हमारा राजनीति-दर्शन व्यापक बना। रूस की साम्यवादी क्रान्ति, पश्चिमी राष्ट्रों (विशेषकर ब्रिटेन) के प्रजातंत्रीय सिद्धान्त आदि हमारे मानस को प्रभावित करने के हेतु बने लेकिन सामाजिक और साहित्यिक धरातल पर यह अनुकरण बुद्धि संगत न होने और मूल को पकड़ने के अभाव में उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में इन स्तरों पर हुए परिवर्तन वस्तुत: आधुनिकीकरण के परिणाम नहीं बन सके। सामाजिक धरातल पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पश्चिमी रहन-सहन, आचार- विचार, पहनावे के सतही स्तर से आगे नहीं बढ़ सकी। फलस्वरूप हमारा अधिकतर बुद्धिजीवी वर्ग पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा को ग्रहण कर उसी में रंग गया और अपनी परंपराओं को हेय समझने लगा। तात्पर्य यह कि पश्चिम के संसर्ग में आकर हमारा जो लक्ष्य था कि हम विशाल दृष्टिफलक पर अपने आपको पहिचानें-प्राप्त नहीं कर पाये। भारतीयों की अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने उन्हें विकास की ओर गतिशील होने के स्थान पर अधर में लटका कर छोड़ दिया।

साहित्य के धरातल पर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और भी दारुण रही। पाश्चात्य अथवा किसी अन्य देश के रचनात्मक आंदोलन को आधार बनाकर रचा गया साहित्य किसी विशेष धारा का वाहक बनकर रह गया। सन् 1936 के बाद के हिंदी साहित्य की एक धारा लेनिन या मार्क्स के साम्यवादी या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही सैद्धांतिक विवेचन करती प्रतीत होती है। इसी से रचनाकारों के एक वर्ग का साहित्य वाद परक आंदोलन बन कर रह गया। नाटकों के क्षेत्र में इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित नाटक भी केवल बाहरी अनुकरण के कारण वह मूल तत्व पकड़ने में असमर्थ रहे जो इन नाटककारों की नाट्य-कला का मूल था। यही नहीं, इन यथार्थवादी नाटककारों के विरोध स्वरूप स्वतंत्रता के बाद अयथार्थवादी नाटकों से

जुड़ने के प्रयत्न किये, उनमें भी ब्रेख्ट से प्रभावित होने की खुशफहमी बनी रही । सत्य तो यह है कि ब्रेख्ट का अयथार्थवाद भारतीय एवं अन्यान्य पूर्व की नाट्य-परम्पराओं को संयोजित किये हुए था । इस ओर संकेत करते हुए श्री बलवन्त गार्गी का यह कथन उपयुक्त है - `------ पूर्वी नाट्य परम्पराओं का उस पर गहरा प्रभाव था । अपने नाटकों में उसने गीत, मूक-अभिनय शैलीबद्ध सम्वाद और मुखौटों का प्रयोग किया और पश्चिम के घोर यथार्थवाद में इन शैलियों को रचाकर अपना महानाट्य प्रस्तुत किया । `[1] तात्पर्य यह कि स्वातंत्र्योत्तर नाटककार समस्या-नाटकों की प्रतिक्रिया में ब्रेख्तीय प्रभावों को ही गिन गिनकर अपने नाटकों में स्थान देता रहा । अपने निजी परंपराओं की खोज वाले वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने में नाटककार को सफलता नहीं मिली ।

दूसरी ओर, पश्चिम के दीर्घकालीन परिचय से भारतीयों का एक वर्ग में अनुकरण के स्थान पर विरोध ने जन्म लिया । यह विरोध अनुकरण की अपेक्षा अधिक बुद्धिसंगत और अनुभवजन्य था । इससे उत्पन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर राष्ट्रीय गौरव की भावना ने जन्म लिया । राजनीतिक स्तर पर गांधी जी का मार्ग सत्य, अहिंसा, सविनय अवज्ञा एवं असहयोग विरोध का एक सृजनात्मक मार्ग था । सामाजिक स्तर पर यह विरोध तत्कालीन भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है । यहां संस्कृतीकरण वैदेशिक संस्कृति के कुप्रभावों से बचते हुए अपनी संस्कृति के गौरव से साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम है । नव जागृत भारतीयों में यह प्रक्रिया प्रबल थी ।

विरोध की प्रवृत्ति को साहित्यिक धरातल पर लक्ष्य करने से ज्ञात होता है कि हमारा एक वर्ग इसे `विरोध में पैठकर उसके सारतत्व को ग्रहण कर असार को छोड़ देने ` के रूप में अपना रहा था । अन्धानुकरण से बचे रहने का यह एक रचनाशील मार्ग था । इसीलिये रचनाकारों का यह वर्ग अपने मौलिक चिन्तन को बनाये रखने में सक्षम हुआ । पश्चिम से सार तत्व के रूप में नाट्य-शिल्प को ग्रहण कर एक मौलिक नाट्य- शिल्प का सर्जन लाल पर पड़े उक्त प्रभाव का ही द्योतक है ।

1- रंगमंच- बलवन्त गार्गी- पृ0 256-257

हिंदी नाटकों की तत्कालीन विकासधारा पर एक दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उस समय प्रमुख रूप से दो स्तरों पर नाटक रचा जा रहा था । पहला स्तर ऐसे नाटककारों का था जो साहित्यिक मूल्यों के कवच तोड़कर तत्कालीन जनता की अभिरुचियों को प्रकाश में ला रहे थे । इनका रचयिता विशुद्ध व्यावसायिक था । सन् 1927 से 1954 तक का युग पारसी हिन्दी नाटकों के उत्कर्ष और फिर शनैः शनैः अपकर्ष होते जाने का युग है ।[1] ये पारसी नाटक साधारण जनता की रुचियों के प्रतिनिधि होने के कारण एक साथ अनेक तथाकथित बुराइयों से ग्रस्त थे । इसीलिये उन्हें केवल यह कहकर उपेक्षित कर देना कि सामान्य वर्ग(Mass) के लिये रचे होने के कारण अनगढ़ एवं अश्लील थे अथवा यह कह कर अति महत्व देना कि वे देश की तत्कालीन जनता, चाहे हिन्दू हो या मुस्लिम या सिख या पारसी, चाहे गांव के लोग हों - चाहे कस्बे के या शहर के- सभी लोग भारतीय संस्कृति के महान चरित्रों और उनकी शौर्यगाथा, प्रेम और बलिदान की ही कथाओं को देखना चाहते हैं तथा ऐसे ही नाटकों के प्रदर्शनों से थियेटर हाल खचाखच भरा जा सकता है - दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी होंगे । वस्तुस्थिति यह थी कि इन नाटकों के मूल में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य निहित था लेकिन ऊपरी तड़क-भड़क में वह उद्देश्य दिखाई नहीं देता था । उभरकर सामने आती थी अति अभिनय वाले तुकान्त सम्वाद, 'वन्स मोर' की ध्वनि बटोरनेवाले उत्तेजना पूर्ण गीत - संगीत और हैरत अंगेज अति नाटकीय दृश्य-योजना ।

पारसी हिन्दी रंगमंच पर खेले जा रहे नाटकों का लाल के नाट्य-व्यक्तित्व के विकास पर दोहरा प्रभाव पडा । एक ओर पारसी हिन्दी नाटकों ने अपनी कतिपय विशेषताओं से अनुकरणीय आदर्श समुपस्थित किया और दूसरी ओर इसमें निहित कतिपय कमजोरियों के अन्दर पैठकर उनकी प्रतिक्रिया में नया मार्ग खोजने में भी वेकृत-संकल्प हुए । इन्हें इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है ।

1- पारसी रंगमंच की व्यावसायिकता और सोद्देश्यता के समन्वय का लाल जैसे विकासशील नाट्य व्यक्तित्व पर दूरगामी प्रभाव पड़ा । इससे लाल को नाट्य-साहित्य

1- पारसी हिन्दी रंगमंच- डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 60

के उपयोगी कला और ललित कला होने का दोहरा अनुभव हुआ । उन्हें इस बोध में सहायता प्राप्त हुई कि कलाकार अपनी कला को व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं से जोड़कर कला का बहुमुखी उपयोग कर सकता है । शर्त इतनी है कि उसका कला-सर्जन उदात्त जीवन मूल्यों को लेकर चले । यहां वे पारसी मंच के नाटककारों के लक्ष्य-पैसा कमाने वाली व्यावसायिक बुद्धि की एकांगिता से एक कदम और आगे बढ़ गये । लाल के जीवन का आधार आज नाट्य सृजन व उसके द्वारा आजीविका का निर्वाह है और जीवन में साहित्य या कला को व्यवसाय अथवा आर्थिक स्वावलंबन के आधार बनाने की यह प्रेरणा पारसी रंगमंच के नाटककारों द्वारा पाई हो, इसमें आश्चर्य नहीं । व्यावसायिकता को सृजन के साथ जोड़ने के पीछे उत्स ही पारसी मंच का है ।

2- लाल के नाटकों में एक व्यापक पौराणिक सन्दर्भ देखने को मिलता है । 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'यदा प्रश्न: उत्तर युद्ध' में जो पौराणिक परिप्रेक्ष्य हैं, उन्हें कथानक के रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा पारसी नाटकों में पौराणिक सन्दर्भों से प्राप्त हुई होती है । ऐसा इसलिए कि लाल बचपन से ही पारसी नाटकों के दर्शक थे । इन नाटकों के पौराणिक कथ्यों को देखकर उन्हें अपने नाटकों के लिए भी प्रयुक्त करने की इच्छा लाल के मन में रही हो- ऐसा स्वाभाविक है । लाल केवल व्यावसायिक नहीं थे, उनमें प्रतिभावान नाटककार की जीवन दृष्टि भी थी, इसीलिये उन्होंने पौराणिकता में आधुनिक जीवन सन्दर्भों को खोजने की भी दृष्टि मिली । लाल ने पारसी नाटकों के इस पौराणिकतत्व को हिन्दी नाटकों की पुनरुत्थानवादी दृष्टि के रूप में माना है ।

3- लाल ने रंग नाटक का बोध भी पारसी रंगमंच से पाया प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में जबकि हिन्दी का रंगमंच(तथाकथित) रंग बोध के अभाव से गुजर रहा था और ऐसी भ्रांति हो गई थी कि हमारी कोई मौलिक रंग परम्परा ही नहीं है- पारसी रंगमंच में निहित आन्तरिक रंग-चेतना नाटक और रंगमंच को पूरक सिद्ध करने में लगी हुई थी । लाल के नाट्य व्यक्तित्व के निर्माण में नाटक के रंगमंचीय होने की अनिवार्यता के बीज में पारसी नाटकों की ही प्रकृति प्रेरणा का

का कार्य करती प्रतीत होती है।

4- पारसी नाटकों ने देश के कोने-कोने में घूमकर दो प्रकार का दर्शक वर्ग जो क्रमश: गाँव और शहर का रहने वाला था- समदाला खड़ा किया और सिद्ध कर दिया कि दोनों प्रकार के दर्शकों की संस्कारवता एवं रुचि भारतीय है। लाल जैसे नाटककार को इस मूल संस्कार और रुचि के अनुसार रचना करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

5- पारसी नाटकों ने नाटक को सामूहिक कला का बोध प्रदान कराने में प्रेरणा का कार्य किया। इन नाटकों में प्रच्छन्न निर्देशक, अभिनेता, नाटककार आदि के परस्पर एक सूत्र होने को हिन्दी के उन नाटककारों ने विशेष रूप से स्वीकार किया है जो नाटक को रंगमंच से अभिन्न मानते हैं।

6- पारसी नाटकों ने यथार्थवादी रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयों से अवगत कराने का भी कार्य किया। पारसी नाटकों में मंच पर यथार्थवादी सज्जा करने में जिन उपकरणों की सहायता ली जाती थी, वे खर्चीले और जटिल थे। ऐसे में हिन्दी नाटककार यथार्थवादी मंच का विकल्प खोजने को प्रेरित हुआ। अयथार्थ रंगरूप वाले मंच के उदय के पीछे उक्त प्रेरणा का हाथ है।

तत्कालीन नाट्य साहित्य के प्रणयन का दूसरा स्तर था तथाकथित पाठ्य-नाटक जो श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा पारसी र मंच की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया और जो अपनी चरम अवस्था में सन् 1936 से समस्या नाटक के रूप में समक्ष आया।

प्रसाद और उनके बाद के स्वातंत्र्य पूर्व के नाटककारों पर सामान्यत: अभिनेयता के अभाव का आक्षेप लगाया जाता है। इसी कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिंदी रंग जगत पर पचास वर्षों के रंग शून्य की बात कही जाती है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। नाटककार अपनी रचना को सार्थक अभिव्यक्ति देने के लिये कल्पनाशील निर्देशक की अपेक्षा करता है। आलोच्यकाल में ऐसे निर्देशकों का अभाव था। जो थे, वे या तो व्यावसायिक स्तर पर अपनी कला को समर्पित कर चुके थे अथवा म अनुकूल साधन सम्पन्नता के अभाव में विवश स्वयं को नाटक की रचना मात्र से सन्तुष्ट कर रहे थे।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने नाटक को रंगमंच से सर्वथा काटकर रख दिया था। इसकर वास्तव में उनकी कल्पना में एक रंगमंच था जिसे 'मानसिक रंगमंच' कहा जा सकता है। प्रसाद, मिश्र, सेठ, माथुर आदि ऐसे ही नाटककार थे जो अपने नाटकों में रंग नाटकों के तत्व समाविष्ट करके चल रहे थे। परवर्ती नाटककारों, विशेषकर लाल ने इस मानसिक रंगमंच की अवधारणा को समक्ष रख 'रंगमंच के काव्य' वाले सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात प्रसाद जी ऐसे प्रमुख नाटककार हैं जिनके साथ रंगमंच-शून्य की बात जोड़ी जाती रही है। यह कहना कि नाटककार प्रसाद में रंगमंच की परिकल्पना नहीं थी, अनुचित है। लम्बे संवाद, क्लिष्ट भाषा, संकलनत्रय की अन्विति का अभाव आदि दोष प्रसाद के नाटकों पर लगाये जाते हैं। वस्तुतः ये दोष नाटक के रचना स्तर के हो सकते हैं और इस दोषारोपण का कारण उस समालोचना पद्धति से हो सकता है जो स्वतंत्रता पूर्व मान्य थी और जो स्वयं ही रंग-मंच से, उसकी पद्धतियों से अपरिचिता थी। समालोचकों की एकांगी समीक्षा प्रसाद जी जैसे रंगशिल्पी को केवल पाठ्य नाटककार घोषित भले ही कर दे लेकिन वर्तमान रंगमंचीन नाटकों के परिवेश के मध्य प्रसाद जी की रंग कल्पना को कल्पनाशील निर्देशक उपयुक्त अभिव्यक्ति दे सकते हैं। प्रसाद जी की कल्पना में जो रंगमंच था, वह अनुकूल साधनों के अभाव में मूर्त नहीं हो पाया था। प्रसाद जी के समकालीन दो प्रकार के रंगमंच थे - प्रथम, पारसी रंगमंच जो प्रसाद जी की नाट्य मर्यादाओं के विपरीत था। दूसरी ओर, उस समय पश्चिमी समाज में कतिपय प्रयोगशील रंगमंचों के व्यवहार का प्रारंभ अभी हुआ ही था। एरिना मंच, केन्द्रीय मंच, खुला मंच, चलमंच, चक्रिलमंच, पेटिका मंच, आकाशरंगवामंच जो पश्चिमी नाट्य जगत में 20 वीं शताब्दी के दूसरे व तीसरे दशक में प्रयोग में लाया जाना प्रारंभ हुआ, वे हमारे यहां कहीं चौथे, पांचवें दशक तक प्रयुक्त होना प्रारंभ हुए थे।[1] ऐसे में प्रसाद जी ने नाटकों की रचना के

1- विशेष संदर्भ के लिए देखें- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच-पं0 सीताराम-चतुर्वेदी-पृ0 520-535

समय इन प्रयोग मंचों को ध्यान में रखा हो- ऐसा प्रतीत नहीं होता । फिर उनके नाटकों का जो सर्वथा यथार्थवादी फार्म है, उसके लिये किसी अभिव्यंजनापरक मंच की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जा सकती ।

प्रसाद जी के नाटक नवीन नाट्य प्रयोगों के समावेश के उपरांत आत्मा से संस्कृतयुगीन ही हैं । प्रयोग होने पर भी, जिसके कारण 'विशाखदत्त' में पद्यमय संवाद मिलते हैं, बाद में 'स्कन्दगुप्त' के कुछ स्थलों पर इनका प्रयोग मिला है । 'जनमेजय का नागयज्ञ' तथा 'अजातशत्रु' में दृश्य शब्द का प्रयोग मिलता है । 'राज्यश्री' तथा 'चन्द्रगुप्त' में उनके स्थान पर केवल संख्या दी हुई है । 'स्कन्दगुप्त' में केवल शीर्षक दिये गये हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' में तीन अंक हैं परन्तु घटनाएं इस तरह अनुस्यूत हैं कि यह परिवर्तन कम होता है । प्रस्तावना और भरत वाक्य के लिये अब कोई स्थान नहीं रहा । वर्जित दृश्य दिखाये जाने लगे, मृत्यु और आलिंगन के उदाहरण मिल जाते हैं ।[1] नाट्य रूप के संगठन, कथा विकास और रंग रूप की दृष्टि में शास्त्रीयता है । इसी कारण यदि प्रसाद की रंगमंच परिकल्पना का आधार भरतमुनि प्रणीत रंगशालाएं रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं । उनके नाटकों के जो कार्य-व्यापार और स्थान हैं, उनके चरित्र विस्तार को देखते हुए विकृष्ट मध्यम, प्रेक्षागृह उपयुक्त प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से हिन्दी नाट्य जगत में फैली रंग शून्य वाली भ्रांति का समाधान यत्किंचित होता है । वस्तुत: हमारे यहां भारतेन्दु के पश्चात भी रंगमंचीय चेतना को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाते रहे । प्रसाद जी के नाटकों और उनके बाद के समस्यामूलक नाटकों में रंग-चेतना न रही हो, ऐसी बात नहीं । वह पुष्कल मात्रा में थी । इन नाटकों का दुर्भाग्य इतना सा था कि ये मुद्रित संस्करणों में छप जाने के बाद भी किसी कुशल निर्देशक के हाथ नहीं पहुंच सके । दूसरे शब्दों में, इनकी रंगमंचीयता अभिव्यक्त नहीं हो सकी । इसका एक कारण तो तत्कालीन दर्शक की प्रवृत्ति

1- हिंदी नाटक-पुनर्मूल्यांकन- डा0 सत्येन्द्र तनेजा ।

थी जो सामान्य शिक्षा दीक्षा के रहते बौद्धिक स्तर पर ऐसी किसी वस्तु को सहज स्वीकार न कर पाने की स्थिति में था जो उसे जरा भी श्रम दे। उसे केवल मनोरंजन चाहिये था और ये नाटक उसकी इस एकांगी शर्त को पूरा नहीं कर सकते थे। दूसरा कारण यह कि इन नाटकों की राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना अन्य समकालीन पारसी नाटकों की तुलना में कहीं अधिक तीक्ष्ण और सीधा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली थी। जहाँ पारसी नाटक 'राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना पर इश्क, मेलोड्रामा, रोमानियत का चस्क रंग बढ़ाकर प्रस्तुत किये जाते थे वहाँ प्रसाद के नाटकों में निहित राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान भावना से ऐसी शुद्ध रूप वाली अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। तीसरा कारण यह था कि अनुकूल रंग साधनों के अभाव में ये नाटक मंचन से वंचित रहे। पारसी नाटकों के शोर-शराबों के साथ यथार्थ मंच की रूढ़ियाँ इस प्रकार जुड़ी थीं कि उनके बीच संस्कृत की अयथार्थ रंग परंपरा की ओर देखने का किसी को अवसर ही नहीं मिला। हमारे नाटककार इन संस्कृत रंग परंपराओं से परिचित थे। इसीलिये अपने नाटकों में लंबी-चौड़ी दृश्य योजनाएं देखने के उपरांत वे इस ओर से निश्चिंत थे क्योंकि वे जानते थे कि उन्हें मंच पर अयथार्थ फार्म के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकिन दूसरी ओर, तत्कालीन निर्देशक इस तथ्य से अनभिज्ञ था। उसे इस प्रकार की रंग परम्परा का बोध तब हुआ जब सन् 1949 में बर्लिनर एन्साबल थियेटर में प्रयुक्त बर्टोल्ट ब्रेख्त का 'महानाट्य' विकसित होकर कहीं पांचवें छठे दशक तक भारत में आ पाया।

इन्हीं कारणों से ये नाटक 'पाठ्य' नाटक के नाम से पहिचाने जाते रहे। इसीलिये यह कहना उचित नहीं कि भारतेन्दु के पश्चात हिन्दी नाटक में वर्षों तक रंग शून्य आ गया। वस्तुत: वह रंग शून्य नहीं, रंग बोध का अभाव था। यह कहना उपयुक्त होगा कि उस समय 'अभिव्यक्ति रंगमंच' का अभाव था किन्तु 'अनुभूति या मानसिक धरातल पर एक रंगमंच अवश्य था। बिना रंगमंच समक्ष रखे किसी भी युग का नाटककार नाटक की रचना कदापि नहीं कर सकता।

रंगमंच के सम्बंध में प्रसाद जी आदि नाटककारों पर आरोपित रंगशून्य की

बात से परवर्ती नाटककारों ने यह सीख अवश्य ली कि नाट्य कर्म की इतिश्री उसकी रचना कर देने मात्र में नहीं है प्रत्युत उसे प्रत्यक्ष मंचित करने में भी है। नाटककार को नाटक के सम्बंध में यह दोहरी दृष्टि प्रसाद जी जैसे कुशल नाटककारों को प्राप्त 'असफलता' से ही मिली।

लाल के व्यक्तित्व विकास में पारसी नाटकों और स्वातंत्र्य पूर्व के नाटककारों की आंतरिक चेतना का जितना प्रभाव रहा है, उतना ही विकासशील एकांकी आन्दोलन, अव्यावसायिक नाट्य मंडलियों एवं इन सभी के प्रभाव को समाहित करती चलती फिल्मों का भी।

एकांकी का हिन्दी में विकास तत्कालीन नाटककारों पर तीन रूपों में प्रभाव से संचालित था- प्रथम, नाटककार की सांस्कृतिकता पर, द्वितीय- शिल्प एवं मंच स्तर पर, तृतीय- जीवन दर्शन के स्तर पर।

हिन्दी एकांकी का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, वे आत्म विरोध वाली परिस्थितियां थीं। हमारे सामाजिक जीवन में अपने सांस्कृतिक मूल्यों पर एक प्रकार का पश्चिमी परिवेश शनैः शनैः हावी हो रहा था। हमारा सामाजिक जीवन युग की विषम परिस्थितियों- राजनीतिक और उससे प्रभावित आर्थिक विशेष रूप से- प्रभावित होकर आणविक होता जा रहा था। सामाजिकता वैयक्तिकता में परिणत हो रही थी और इसी का परिणाम हुआ- व्यापक रूप से 'स्व' से घिरे और मनोग्रंथियों से लिपटे फ्रायडवादी मनुष्य का उदय जिसे साहित्य में अचेतन और मनस्ताप की शब्दावली के साथ ~~प्रस्तु~~ प्रस्तुत किया गया। भारतीय सामाजिक जीवन में यह आणविकता तो 20 वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक से ही प्रारंभ हो गयी थी जब एक व्यापक सांस्कृतिक संक्रमण ने जन्म लिया था। इस संक्रमण का व्यापक परिणाम यह हुआ कि हमारी संस्कृति बहुलतावादी बनकर खण्ड-खण्ड हो गई। ये खण्ड, उच्च, मध्य और निम्न तीन वर्गों में बंटकर सांस्कृतिक संकुचन का कारण बने।[1] संस्कृति के इस

1- देखिये- The social context of modern English literature- Basil Blackwell/P.91

विभाजन ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जन जीवन को प्रभावित किया था । हमारे यहाँ सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की इस प्रक्रिया का प्रतिबिंबन हुआ एकांकी के उदय के रूप में । विशाल से सीमित, समष्टि से व्यष्टि तक संकुचित हो जाने की यह एक साहित्यिक घटना कही जा सकती है । हिन्दी नाट्यान्दोलन पर सांस्कृतिक परिवर्तन का यह प्रभाव एकांकी रूप में समदा आया । सांस्कृतिक विखंडन के परिणाम स्वरूप व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार के द्वन्द्व ने जन्म लिया जो यथार्थ जीवन के मध्य फूटने लगा । द्वन्द्वात्मक बोध की इस अजस्त्र धारा को हमारे यहाँ बाँधने का कार्य किया एकांकीकारों ने और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्यान्दोलनन तो जैसे इसी द्वन्द्व बोध का पर्याय बन गया । यह द्वन्द्व सामाजिक स्तर पर जितना गहन नहीं था उतना निजी स्तर पर था । यही 'निजता' एकांकी की आत्मा है जिसने नाटककारों को रचना स्तर पर प्रभावित किया । इस ओर संकेत करते हुए श्री सद्गुरुशरण अवस्थी का यह कथन उल्लेखनीय है- 'एकांकी साहित्य का वह अंग है जो निजी सत्ता रखता है । उसकी अपनी 'निजी आत्मा' और स्पष्टीकरण की 'निजी शैली' होती है ।[1]

एकांकी के विकासशील नाटककारों पर पड़े, प्रभाव का दूसरा क्षेत्र है उसका शिल्प । नाटक के यथार्थवादी शिल्प को एकांकियों से बड़ी प्रेरणा मिली है । जहाँ रंगमंच के स्तर पर आधुनिक नाटककार 'यथार्थ से अयथार्थ' की ओर गये हैं वहाँ रचनात्मक स्तर पर नाटककार 'अयथार्थ से यथार्थ' की ओर बढ़े हैं । पारसी नाटकों के परवर्ती नाटककारों पर पडे प्रभाव का विवेचन करते हुए यह देखा गया था कि पारसी नाटकों का यथार्थवादी मंच विधानादि बड़ा ही खर्चीला और श्रमसाध्य था । फलत: हिन्दी के रंग नाटककारों ने इसका विकल्प ~~अनथ~~ अयथार्थवादी मंच के रूप में खोज निकाला । संस्कृत नाट्य रूप और ब्रेख्त से तो ये नाटककार किताबी स्तर पर प्रभावित हुए थे । व्यावहारिक दृष्टि से प्रभाव का कारण तो पारसी नाटक ही था । विपरीत इसके

1- हिन्दी नाटक-सिद्धान्त और विवेचन-डा0 गिरीश रस्तोगी- पृ0 139

रचनात्मक धरातल पर शिल्प की खोज में ये नाटककार पारसी नाटकों की काल्पनिक या अस्वाभाविक कथा विधान अथवा पौराणिक या ऐतिहासिक कथ्य में पुराण या इतिहास का समावेश केवल अतीतकालीन परिप्रेक्ष्य में लेकर रख देनेवाली प्रवृत्ति के आलोचक थे। हमारी सामाजिक द्वन्द्वात्मकता को और उसकी विडम्बना को यथार्थ जीवन के कथा बिन्दुओं द्वारा ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। अतीत या कल्पना जीवी होना यथार्थ से पलायन है। समसामयिकता या वर्तमान ही नाटक का मूल है। इसीलिये आधुनिक नाटकों के 'मिथक' को केवल पुराण नहीं कहा जा सकता। नाटककार का लक्ष्य वहाँ भी वर्तमान या यथार्थ जीवन को लक्ष्य करना है। पुराण या इतिहास उस यथार्थ को प्रकट करने का एक माध्यम मात्र है। तात्पर्य यह कि स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों के नाट्य कर्म को रचनात्मक स्तर पर प्रभावित करने के पीछे एकांकी आंदोलन का प्रभाव निहित है।[1]

हिन्दी एकांकी के विकासशील नाट्य व्यक्तित्व पर पडे प्रभाव के कारण एक ओर लाल जैसे नवोदित नाटककारों को यथार्थ जीवन के चित्रण की ओर रुझान हुआ दूसरे, युग की यथार्थ सामाजिकता, संस्कृति व उसकी अभिव्यक्ति के लिये कलागत आग्रह के प्रति प्रेरणा भी मिली एवं तृतीय, रंगमंच को व्यावहारिकता प्रदान करने का मनोबल मिला। यह व्यावहारिकता उस पर एक साथ यथार्थवादी और अयथार्थवादी नाटकों के मंचन के रूप में प्रकट हुई। इस संपूर्ण प्रभाव को डा0 लाल ने भी स्वीकार किया है - 'विशुद्ध भौतिक धरातल पर द्वन्द्वात्मक सत्य का जन्म होने लगा था। समूचा जीवन अपने नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सौन्दर्य बोध के आयामों में बिल्कुल एक परिवर्तित परिस्थितियों से टकराने लगा था। वस्तुत: उस टकराहट में पाश्चात्य जीवन दर्शन और भारतीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक विचारधारा कार्य कर रही थी। और इस प्रक्रिया में जो नया उन्मेष तत्कालीन समाज को मिल रहा था, उसका स्वर और स्तर से अपेक्षाकृत अधिक सघन, उच्च और गहरा था जो हिन्दी कहानियों के जन्म अथवा आविर्भाव काल के समाज में व्याप्त था।[2]

1- सामाजिक नाटकों की यथार्थवादी धारा- नाम डा0 लाल ने एकांकी को दिया है।

2- आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच-पृ0 112

तत्कालीन एकांकी आन्दोलन जितना ही अधिक रंग चेतना से युक्त था उतना ही अथवा उससे भी अधिक अव्यावसायिक नाट्य मंडलियों की रंग चेतना थी। सम्भवत: इसका कारण उनका अव्यावसायिक होना था। उनका उद्देश्य पैसा कमाना नहीं था। शौकिया कार्य उत्साह से होता है और यह स्वीकार करना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अव्यावसायिक नाट्य मंडलियां उत्साह से प्रेरित होकर कार्यरत थीं। कालेज स्तर पर यह उत्साह विशेष रूप से देखा जा सकता था।

अव्यावसायिक नाट्य मंडलियों की चर्चा में दो नाम उभरकर समक्ष आते हैं। प्रथम इप्टा (Indian people's theatre) और द्वितीय, पृथ्वी थियेटर।

इप्टा की नाट्य चेतना के विकास में तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा हाथ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उपनिवेशवादियों द्वारा निम्न व मध्यम वर्ग को उत्पीड़न और इसके दूरगामी प्रभाव स्वरूप व्यक्ति की आंतरिक विघटन और नैतिक पतन इस काल की बहुत बडी घटना है। ऐसी परिस्थिति में 'इप्टा' का आंदोलन सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर सामने आया था। इप्टा' को हिन्दी नाटकों पर राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव की प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। वह सामयिक राजनीति व सामाजिक जीवन सन्दर्भ में राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर सीधे जुडने के लिए नाटककार को एक अभिनव प्रेरणा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ रहे समाजवादी स्वर की नाट्याभिव्यक्ति 'इप्टा' के रूप में प्रकट हुई थी। इसने कला को सामयिक जीवन के वैषम्य से जोडकर उसको राजनीतिक और सामाजिक स्वर प्रदान किया। 'इप्टा' की स्थापना बंगाल के भीषण अकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई थी। लेकिन शीघ्र ही बंगाल का अकाल इसके माध्यम से देश की जनचेतना का वाहक बन गया। नवोदित नाटककारों में जनचेतना फूंकने का बहुत बड़ा श्रेय 'इप्टा' को दिया जा सकता है। नाट्यकर्मियों में राष्ट्रीय ~~मानव~~ एकता (National- integration) की भावना का प्रसार करने में यह बहुत सहायक रहा। 1942 में कलकत्ता में विनयराय के नेतृत्व में 'बंगाल कल्चरल स्क्वैड' की स्थापना से लेकर 'आगरा कल्चरल स्क्वैड' की स्थापना इप्टा की बंगाल से लेकर हिन्दी क्षेत्र तक की यात्रा कही जा सकती है।

वस्तुत: राष्ट्रीय स्तर पर `इप्टा` का रंगमंच भावात्मक एकता का बोधक था। रंगमंच की इस शक्ति से नाटककारों को परिचित कराने में `इप्टा` का महत्वपूर्ण हाथ था।

इप्टा ने कहीं- कहीं अपने आर्थिक आक्रोश को सुदृढ़ करने के लिये व्यावसायिक स्तर भी नाटक खेले। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वह व्यावसायिक था। `पृथ्वी थियेटर` भी इन सीमाओं में बद्ध होने पर व्यावसायिक ही प्रतीत होगा। लेकिन इनकी यह व्यावसायिकता इनके लक्ष्यों के सामने तुच्छ थी। अपने महत् उद्देश्य के कारण ही ये अव्यावसायिक ही मानी जानी चाहिये। ऐसी स्थिति में अव्यावसायिक की एक विशेष परिभाषा होगी। अर्थात् जो कलात्मक या व्यापक मानों की स्थापना के लिये अर्थोपार्जन की तुलना में अधिक प्रयत्नशील हैं। `इप्टा` के निर्माण के पीछे यही दृष्टि थी। उसमें एक साथ उत्साह, अर्थ दृष्टि, दर्शक रुचि का समावेश था। यह दृष्टि कालान्तर में रंगकर्मी के सन्दर्भ में भी हम लक्ष्य कर सकते हैं। समग्रत: अपने निर्माण के पीछे तात्कालिक राजनीतिक कारणों से प्रभावित होने के कारण वह युग सापेक्ष नहीं बन पाया। इसी कारण तात्कालिक रूप से अपने उद्देश्य की गहरी अभिव्यक्ति कर वह शिथिल पड़ गया। फिर भी अपने समय की चेतना को गांव- गांव पहुंचाने एवं जनता के सुख- दु:ख से जोड़ने का महत् कार्य किया। नाटक को जन-साधारण के सुख- दु:ख से जोड़ने का यह प्रभाव ही स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में भी आया।

`इप्टा` के ही समकालीन सन् 1944 में प्रसिद्ध रंगमंच और सिने कलाकार श्री पृथ्वीराज कपूर द्वारा स्थापित `पृथ्वी थियेटर्स` पारसी मंच की कला और व्यवसाय गत मूल्यवत्ता की एक अपेक्षाकृत परिशोधित अभिव्यक्ति था। सम-सामयिक राजनीतिक और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के संदर्भ में इसके `गद्दार`, `आहुति`, `पठान` नाटक `इप्टा` के नाटकों के से प्रभाव को लेकर चलते हैं लेकिन इसका अपना विशेष मंच बोध भी था जो `इप्टा` में नहीं था। ऐसी स्थिति में `इप्टा` के तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित तुलना में `पृथ्वी थियेटर` का प्रभाव तत्कालीन

तत्कालीन उदीयमान रंगकर्मी पर बहुत गहरे हुआ । कला के प्रति कपूर साहेब का जो अपार अनुराग था वही इस संस्था के संस्कारों में था और नाट्य जगत में कार्य करने वालों को व्यावहारिक जीवन में कला की रक्षार्थ व्यावसायिक स्तर पर संघर्ष की प्रेरणा इसी पृथ्वी थियेटर्स से मिली । डा0 लक्ष्मीनारायण लाल और डा0 माहेश्वर ने पृथ्वी थियेटर्स को व्यावसायिक कहा है । पृथ्वीराज कपूर का उद्देश्य इस सम्बंध में उद्देश्य कभी व्यवसायी नहीं रहा । खिड़की पर पैसा एकत्र करने का जहां तक उद्देश्य है, एक विशेष अर्थ में इसे अव्यवसायी माना जाना चाहिए । जिस प्रकार आज हृषीकेश मुखर्जी, गुलजार अथवा श्याम बेनेगल की फिल्में सिनेमा हाउस में चलकर और व्यवसाय के समानान्तर कला बोध लिये समान्तर अथवा कला फिल्मों की संज्ञा पाती हैं वैसे ही पृथ्वी थियेटर्स के रूप में पृथ्वीराज कपूर व्यवसायी नाटकों के समान्तर एक नवीन आन्दोलन लेकर जन्मे थे । और इस अर्थ में अव्यवसायी थे । उनकी संस्था का अव्यावसायिक होना इस कथन से स्पष्ट है - 'उसने नाटकों के माध्यम से यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि यह संस्था पेशेवर कम्पनियों की तरह पैसा बटोरने के ख्याल से नहीं बनाई गयी है । अगर इन नाटकों द्वारा कुछ कलाकारों को रोजी मिलती है तो इसमें नाटक को लाभ पहुंचता है, पृथ्वीराज को नहीं ।'[1] तात्पर्य यह कि स्थापक और मालिक की हैसियत से पृथ्वीराज कपूर ने वैसा लाभ कभी नहीं पाया अ जैसा पारसी नाटक के मालिक पाते थे । उनका इस संस्था के सम्बंध में उद्देश्यपूर्ण कलाकार का था ।-'फिल्मों में काम करके पृथ्वीराज अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण नहीं कर पा रहे थे । बार-बार रंगमंच को संवारने के लिये बेताब हो उठते थे ।एक दिन बोले-' मेरे लिये कला जीवन है । एक तड़प है, मैं चाहता हूं कि कला जन जीवन का दर्पण बने जिसमें जीवन अपने को देख सके । सुन्दर बन सके, उन्नति कर सके ।[2] उदीयमान

1- सिनेमा और स्टेज-बलराज साहनी, पृ0 114

2- हिन्दी रंगमंच और पं0 नारायणप्रसाद 'बेताब'- पृ0 115

नाटककारों को पृथ्वीराज कपूर के कला व रंगकर्म के प्रति समर्पण की भावना प्रेरणा के रूप में प्राप्त हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि चौथे दशक में हिंदी रंगमंच के प्रति इतने अधिक वेतन स्तर पर जुड़े वे एक मात्र कलाकार थे और पारसी मंच के बाद हिन्दी क्षेत्र में एक भिन्न शैली के रंगमंच की आधार शिला रखनेवाले प्रथम रंगकर्मी भी ।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में व्यावसायिक एवं कलात्मक धरातल पर हो रहे अनेक प्रयोगों के विकासशील नाटककारों के व्यक्तित्व पर पड़े प्रभावों को एक दूसरे कोण से भी देखने की आवश्यकता है। यह कोण है, इस शताब्दी के चतुर्थ दशक से लेकर पंचम दशक के पूर्ण होते न होते समसामयिक अन्य भाषा नाटकों के प्रभावांकन में। इनमें डा0 लाल के व्यक्तित्व पर पड़े प्रभावों के सम्बंध में मुख्य रूप से बंगला नाटक के आन्दोलन को लक्ष्य किया जा सकता है।

विकासशील नाट्य व्यक्तित्व पर बंगला नाटकों के प्रभाव को मुख्यत: दो रूपों में देखा जा सकता है :-

1- रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रभाव

2- ह्रासोन्मुख बंगला व्यवसायी थियेटर व शौकिया क्लबों के सिखाऊ रवैये के विरुद्ध[1] शम्भुमित्र व उत्पलदत्त का नाट्यान्दोलन का प्रभाव ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सर्वप्रथम नाटक को काव्यात्मकता से जोड़ा था । जिसे आज के रंग नाटककार 'रंगमंच का काव्य' कहते हैं और जिसके उपयोग के बिना नाटक को केवल नाट्य पाठ कहकर अस्वीकार करते हैं, रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा ही प्रथम सामने लाया गया था । यथार्थवादी नाट्यान्दोलन पर यह वैसी ही विजय थी जैसी 19 शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इब्सन आदि के यथार्थ नाटकों के विरोध में ब्रेख्त का 'महानाट्य'

1- रंगमंच- बलवन्त गार्गी- पृ0 120

आया था । प्रश्न यह है कि टैगोर ने इसे ब्रेख्त से प्राप्त किया था अथवा स्वतंत्र रूप से अपनी विशेष शैली का निर्माण किया था ? वस्तुत: हमारे यहाँ ब्रेख्त का जो प्रभाव नाटककारों पर पड़ा व स्थूल रंगमंच की सज्जा, प्रस्तुतीकरण तकनीक और मंच परिकल्पना तक ही विस्तार प्राप्त कर पाया । इससे आगे बढ़कर रचना स्तर जो अयथार्थ परिकल्पनाएँ की जानी थीं, उन्हें हमारे नाटककार चलता छोड़ गये । इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे ब्रेख्त से पाठ्य- स्तर पर ही परिचित हो पाये थे । विपरीत इसके वे नाटककार जो एक साथ मंच व रचना मंच को ध्यान में रखकर चले- अयथार्थ को सही रूप से पकड़ने का श्रेय इन्हीं नाटककारों को है । इस कार्य के लिये बहुत दूर बैठा ब्रेख्त उनके लिये उपयोगी नहीं हो सकता था । इसके लिये उन्हें अपने ही नाट्य परिवेश में एक प्रेरक की तलाश थी । रवीन्द्र नाथ टैगोर ऐसे ही नाटककार थे । टैगोर पर ब्रेख्त के प्रभाव की बात कहना भी नितान्त भ्रम है । ब्रेख्त का समय द्वितीय विश्व युद्धोत्तर है जबकि बर्लिन लौटकर ब्रेख्त ने ऐसेम्बल थियेटर की स्थापना की । सन् 1956 (मृत्यु) तक वह अपने अयथार्थान्दोलन को बढ़ाता रहा । इसके विपरीत रवीन्द्र नाथ टैगोर का नाट्य जीवन सन् 1881 से ही प्रारंभ हो जाता है जब उन्होंने वाल्मीकि प्रतिभा' लिखा था । तब से लेकर सन् 1939 (श्यामा' की रचना) तक उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की । स्पष्ट ही रवीन्द्र और ब्रेख्त के मध्यकाल सीमा बहुत अधिक है । रवीन्द्र के नाट्य काल के समय पश्चिम में इब्सन का यथार्थवाद ओज पर था । ऐसे में रवीन्द्र के नाटक इब्सनादि की प्रतिक्रिया के रूप में समक्ष आते हैं । वस्तुत: रवीन्द्र ने बंगला नाटकों को अपनी संस्कृत परंपरा से सीधा जोड़ दिया था । 'फाल्गुनी' नाटक के प्रारम्भ में रवीन्द्र का यह मत उक्त तथ्य की पुष्टि करता है - 'हमें वास्तविक दृश्यों की आवश्यकता नहीं । जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है मानसिक पृष्ठभूमि । उस पर संगीत की तूलिका फेरकर अपनी इच्छा के अनुसार चित्र अंकित करेंगे ।[1] इसी

1- फाल्गुनी- रवीन्द्रनाथ टैगोर ।

मानसिक पृष्ठभूमि के साथ रवीन्द्र के नाटकों में संगीत, काव्य, नृत्य, अभिनय इत्यादि उभरकर सामने आते हैं। इसीलिये 20 वीं शताब्दी के तृतीय अथवा चतुर्थ दशक में उभरने वाले हिन्दी नाटककारों पर रवीन्द्र का प्रभाव ही सत्य माना जाना चाहिए, ब्रेख्त ज्यां कावत आदि का नहीं, जैसा कि डा0 लाल भी कहते हैं।[1]

रवीन्द्रनाथ टैगोर के पश्चात बंगला नाटकों में एक प्रकार का ह्रास देखने में आता है। यह है तो कुछ समय का ही किन्तु बंगला नाटकों की गरिमामय परंपरा को कलंकित करने वाला है। द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्र नाथ टैगोर के पश्चात बंगला की साहित्यिक व सांस्कृतिक प्रवृत्तियां कुछ समय के लिये अवरुद्ध अवश्य हुई थीं जिसका प्रत्यक्ष कारण बंगाल का वह भयानक अकाल था जिसने कलाप्रिय बंगालियों को कुछ समय के लिये जैसे हतप्रभ कर दिया था। जीवन की मूलभूत समस्याओं ने बंगला मानस को तोडकर रख दिया था। कला के क्षेत्र में उत्पन्न इस छोटे से शून्य ने बंगला मंच को भी प्रभावित किया। जैसे शून्य को भरने के लिये जल की धाराएं चारों ओर से आ घिरती हैं वैसे ही तत्कालीन व्यावसायिक रंगमंच ने बंगला मंच को आ घेरा। इसके साथ ही फिल्मों के आगमन से बंगला मंच यत्किंचित प्रभावित हुआ। किन्तु विपरीत उस प्रभाव में बहे बंगला नाटक को स्तर पर लाये रखने के लिए 'बहुरूपी' नाट्य संस्था का उदय (1949) इस नाट्य इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुत: 'बहुरूपी' के स्थापक श्री शम्भु मित्र इसे व्यवसाय स्तर से कहीं अधिक कला स्तर पर एक सशक्त अभिव्यक्ति देना चाहते थे। ठीक वैसे ही जैसे हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में पृथ्वीराज कपूर द्वारा स्थापित 'पृथ्वी थियेटर्स'। कुछ कालक्षेप के साथ विकासशील नाटककार के व्यक्तित्व पर दोनों का प्रभाव एक ही रहा। 'पृथ्वी थियेटर्स' की प्रस्तुतियों में जहां यथार्थवाद के प्रति आग्रह था (जिसका प्रबल प्रमाण 'बैताव' का 'शकुन्तला' नाटक कहा जा सकता है) जिसकी 'पृथ्वी थियेटर्स' द्वारा मंचन किया गया था।) वहां 'बहुरूपी' सर्जनात्मक कल्पनाशीलता, कलापूर्ण प्रदर्शन, संगीतात्मकता के माध्यम को

1- आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच- पृ0 13

अपनाने के कारण अयथार्थवाद के अधिक समीप थी । हिन्दी नाटकों में ये दोनों ही प्रभाव किसी न किसी रूप में समक्ष आये दिखाई देते हैं । वस्तुत: (बहुरूपी) भी अयथार्थवाद की दिशा में रवीन्द्र के नाट्य दर्शन की ही मुखर अभिव्यक्ति थी । इस प्रकार हिन्दी नाटककार के रूप में डा० लाल के उभरने में यथार्थ व अयथार्थवाद के सम्मिलित प्रयोग के पीछे[1] प्रेरणा स्वरूप 'पृथ्वी थियेटर्स' और 'बम्बई बहुरूपी' के प्रभाव को एक साथ देखा जा सकता है ।

1949 के ही लगभग एक नाम शम्भु मित्र के ही समान्तर उभरा- उत्पलदत्त का । इन्होंने 'लिटिल थियेटर ग्रुप' के माध्यम से बंगला रंगमंच को एक नवीन आयाम दिया । जहां 'बहुरूपी' ने कला के स्तर को बनाने के लिये प्रयास किया वहां 'लिटिल थियेटर ग्रुप' ने व्यवसाय की दृष्टि भी समक्ष रखी । इस प्रकार कला और व्यवसाय के दो मानदण्डों के बीच क्रमश: शम्भु मित्र और उत्पलदत्त की स्थिति कही जा सकती है । ठीक वैसे ही जैसे पारसी थियेटर का तत्कालीन दृष्टिकोण दोहरा था कला व व्यवसाय को एक साथ नाटकों में स्थान देना (यद्यपि दो तीन नाटककारों को छोड़कर कोई भी इस समन्वय की रक्षा नहीं कर पाया) । लाल के नाट्य व्यक्तित्व के विकासमान चरणों में बंगला और पारसी नाटकों के ये प्रभाव स्पष्ट एक भूमि तैयार करने में सफल हुए । व्यावसायिक भी कलापूर्ण हो सकता है- इसे लाल ने इन्हीं नाट्यान्दोलनों द्वारा जाना ।

बंगला नाटकों के अतिरिक्त मराठी व गुजराती रंगमंच भी इस समय सक्रिय था किन्तु सम्भवत: इतना प्रकट नहीं जितना बंगला रंगमंच । वस्तुत: बंगला मंच और नाटक को राष्ट्रव्यापी बनाने का श्रेय एक साथ इप्टा व टैगोर को है । इन्होंने बंगला रंगकर्म की सीमाओं को हिन्दी क्षेत्र तक में विस्तार दिया । इतना व्यापक आंदोलन

1- लाल के प्रारंभिक बड़े दो नाटक हैं और दोनों दो भिन्न प्रकारों (रंगरूपों) के उदाहरण (1) मादा कैक्टस (अयथार्थवाद) (2) अन्धा कुआ (यथार्थवाद)

मराठी या गुजराती में नहीं चल पाया, इसका कारण वह शिक्षा- दीक्षा और ललित कलाओं के प्रति अनुराग हो सकता है जो अन्य भाषा नाटकों के प्रणेता और दर्शकों को प्राप्त न हो पाया होगा। जो भी हो, उदीयमान हिन्दी नाटककारों को प्रेरणा देने में बंगला नाटक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नाटक और रंगमंच के विस्तार के इस युग को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लक्ष्य करने पर कहा जा सकता है कि वे ही प्रवृत्तियां जो भारतीय रंग क्षेत्र में प्रसरित थीं, अपने व्यापक रूप में अन्तराष्ट्रों में भी व्याप्त थीं। इस दृष्टि से निम्नांकित प्रमुख बिन्दुओं को लक्ष्य किया जा सकता है - 'अपनी परम्परा की खोज', अयथार्थवाद, साम्यवादी प्रभाव और नाटक एवं व्यावसायिकता।

स्वतंत्रता के दशक पूर्व से ही हमारे यहां नाटककारों का अपनी नाट्य परंपरा से जुड़ना एक प्रमुख उद्देश्य बन रहा था। भारत की प्राचीन ~~संस्कृति~~ संस्कृत नाट्य-परंपराओं को पुनरुज्जीवित करना, आधुनिक जीवन सन्दर्भों को मिथकादि पद्धतियों में प्रस्तुत करना और इस प्रकार समसामयिक परिस्थितियों से जुड़ना हमारे नाटककारों का लक्ष्य बन रहा था। फलस्वरूप हमारे यहां बंगाल में रवीन्द्रनाथ टैगोर और हिंदी प्रदेश में जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, डा0 लक्ष्मीनारायण लाल प्रभृति नाटक-कारों का जन्म हुआ। यही तथ्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सत्य है। दर्शक फिल्म, रेडियो व टेलिविजन के नवीनतम प्रयोगों से ऊब रहा था। फलत: अब वह पुन: उस क्लासिकल युग की ओर लौट जाना चाहता था जिससे वह पांचवी शती के आसपास डायनीसस, ऐरिस्टोफेनिज के युग में ही विभक्त हो गया था। इस प्रकार नाटकों की काव्या-त्मकता, संगीतात्मकता एक बार फिर आपेरा वा गीत नाट्य के रूप में उभर रही थी। हमारे यहां नाटकों में काव्यात्मकता (जिसे परवर्ती नाटककारों ने रंगमंच के काव्यत्व के रूप में प्रस्तुत किया) के प्रति मोह भी इसी युग की देन है। पश्चिमी नाट्य-समाज में इस परंपरागत कला की ओर अभिमुख हो रहे हैं जबकि जीवित अभिनेता टोलियों में बैठे प्रेक्षकों के सामने अपना अभिनय प्रस्तुत करता है। हम यह भी देखते हैं

कि महान आपेरा सदैव की भाँति अब भी चल रहा है, यद्यपि अमेरिका में इसकी अवधि कम होती जा रही है। और यह कि संगीत नाट्य हल्के-फुल्के रूप के प्रति चाहे वे छोटे आपेरा हों, संगीतमय सुखान्त नाटक हों या उनके मिलेजुले रूप हों, 1950 ई0 के बाद भी लोक-रुचि बढ़ी ही, घटी नहीं।[1] इस शताब्दी के मध्य चार दशकों का यह सारांश है। इन्हीं दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर बर्तोल्त ब्रेख्त, मेयर होल्ड, रीनहार्ड और जेसनर जैसे ऐसे कुशल रंगशिल्पी हुए जिन्होंने नाटकों को रचना और प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र में प्रयोग से बढ़कर शास्त्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया।

उपर्युक्त प्रयत्न ही अयथार्थवादी आन्दोलन के जन्म का कारण बने। वस्तुत: पश्चिमी और पूर्वी नाट्य जगत का क्लासिकल नाट्य साहित्य चाहे वह संस्कृत का घाघ, भास या कालिदास का संस्कृत नाट्य साहित्य हो, चाहे यूनान के डायोनिसस के उत्सव पर होनेवाले बीजवपन नृत्य से लाकर थेस्पिस का अनुकरणमूलक नाट्य हो, चाहे जापान का प्राचीनतम 'नोह' नाटक हो- अपने मूल में अयथार्थवादी नाट्यान्दोलन ही का प्रारंभ कहा जा सकता है। इसे कालान्तर में यथार्थ के अतिवादी प्रभाव के कारण विस्मृत कर दिया गया। 20 वीं शताब्दी में कैमरे और फिल्म ने ~~अतिवादी प्रभाव के कारण विस्मृत कर दिया गया।~~ जब यथार्थवादी शिल्प को अपनी व्यापक सीमाओं में कैद कर लिया तो नाटक और रंगमंच का यथार्थ जैसे स्वयं को बौना अनुभव करने लगा। फिल्म और कैमरे की इसी शक्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में अयथार्थ फार्म का जन्म हुआ- यह कहना उचित है।[2] इस फार्म का प्रयोग भारतीय रंगमंच एवं नाटक के क्षेत्र में इस शताब्दी के चतुर्थ दशक के आस पास माना जा सकता है जब उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'छठा बेटा' द्वारा स्वप्न अथवा छाया नाटकों को मंच परिकल्पना के परिप्रेक्ष्य में लिखा। लगभग इसी समय गीति एवं भाव नाट्य का भी

1- रंगमंच- शेल्डन चेनी (अनु. श्रीकृष्णदास) पृ0 687

2- देखिये- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- डा0 लक्ष्मीनारायण लाल - पृ013.

प्रणयन हुआ जो रंगमंच को काव्यत्व के धरातल पर तो नहीं पकड पाया न ही अभिनयात्मिका वृत्ति के नाटक में प्रसार में सहायक हुआ किन्तु नाटक और रंगमंच को संगीत और लय के प्रारंभिक बिन्दु पर लाकर अवश्य खडा कर सका। बंगला नाटकों में तो यह प्रभाव 'वाल्मीकि प्रतिभा' (1881) से ही प्रारंभ हो जाता है। जो हिंदी में उदयशंकर भट्ट के भावनाट्य 'मत्स्यगन्धा' (1937) पर पडे प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। इस भावनाट्य और इसी प्रकार के रवीन्द्र के काव्यत्व बोध वाले नाटकों को 'सांकेतिक नाटक कहा जाता है।[1] जो वस्तुत: शब्द भेद से अयथार्थ नाटकों की ही ओर संकेत है।

अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर यथार्थ से अयथार्थ रंगशिल्प की ओर संक्रमण का यही समय है। नाटककार की रंग-परिकल्पना को मंच पर अयथार्थ रूप से प्रस्तुत करने की दिशा में अब नाट्य-निर्देशक की भूमिका प्रधान हो चली थी। नाटक की दृश्य परिकल्पना को संकेतात्मक और सामान्य पृष्ठभूमि के साथ आकार देने की दिशा में निर्देशक अयथार्थ फार्म का प्रयोग करने लगे थे। रंग, संगीत और ध्वनियों को दर्शक पर प्रभाव के रूप में ग्रहण किया जाने लगा था। इस दिशा में मीनिंजिन हर्नेयर्स, रीनहार्ड, जेसनर आदि निर्देशकों के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

निर्देशकों की उक्त मांग के अनुरूप ही इस समय ऐसे नाटकों की रचना भी हुई जिनमें अयथार्थ रंग रूप के समायोजन की संभावनाएं थीं। यूजीनओ नील (दी ह्यरी एप), बर्तोल्त ब्रेख्त (काकेशियन चाक सर्किल), जीन अनोलिह (मीडिया), पाल जीन सार्त्र (नो एक्जेट), टी० एस० इलियट (मर्डर इन दी कैथड्रल) टेनिसी विलियम्स (दी ग्लास मेनेजरी) एवं आर्थर मिलर (दी क्रूसीबल) इस दृष्टि से शताब्दी के इन मध्य दशकों के प्रतिनिधि

---

1. हिन्दी बंगला नाटक- डा० महेश्वर- पृ० 247

कलाकार हैं । ओ नील के नाटकों में अभिव्यंजनावाद और प्रतीकों के प्रयोग नाटकों के अयथार्थवादी रंग रूप की ओर संकेत करते हैं । उनका 'दी ह्येरीऐप' सामाजिक बर्बरता द्वारा अभिशप्त वैयक्तिकता को संकेतों द्वारा अभिव्यंजित करनेवाला नाटक है । नाटक के अंत में नायक का पिंजड़े का द्वार खोलकर स्वयं को वनमानुष के हवाले कर देने के पीछे यही अभिव्यंजना प्रच्छन्न है । बर्तोल्त ब्रेख्त का नाट्य साहित्य तो दर्शक को पूर्ण सजग होकर नाटक की घटनाओं व क्रियाकलापों पर सोचने को बाध्य करता है । वह दर्शकों के अभिनेताओं के साथ तादात्म्य के परंपरागत सिद्धान्त पर प्रश्नचिन्ह लगाता है । इस प्रकार प्रोसिनियम आर्च के भीतर और बाहर के भेद को बनाये रखकर वह एक प्रकार का Alienation-essect उत्पन्न करता है जो आधुनिक अयथार्थवादी नाटकों का मूल है । हिन्दी नाटकों में यह प्रभाव विकासशील नाटककारों में व्यापक रूप से समदा आया । डा० लाल के प्रारम्भिक नाटक 'मादा कैक्टस' में सूत्रधार सुधीर का दर्शक से बात करना अभिनेता और दर्शक के बीच की खाई पाटने के उपरान्त दोनों को तार्किक स्तर पर जागृत बनाये रखकर विभक्त बोध से युक्त रखना है । 'इप्टा' के नाटकों में तो दर्शकों और अभिनेताओं को वैचारिक सूत्र से बांधे रखने के लिये और दर्शक को अभिनेता का स्तर भेद देने की अपनी युक्ति भी थी जो अयथार्थवाद का ही द्योतन करती थी । ब्रेख्त का 'काकेशियन चाक सर्किल' अयथार्थवाद के नये द्वार खोलता है । चतुराविध अभिनय द्वारा नाटक की घटना वा स्थिति के विवरण की पद्धति वहां पूर्णतः अयथार्थ है । ब्रेख्त के ही समकालीन जीन अनोलिह में अयथार्थवाद के अनुरूप 'विचारों को बिम्बों के रूप में' प्रस्तुत करने की एक अनोखी प्रवृत्ति मिलती है । 'मीडिया' उनका प्रसिद्ध नाटक है जिसमें नाटककार ने जेसन और मीडिया जैसे चरित्रों के अंदर से विरोध या द्वन्द्वपूर्ण स्थिति को उभारा है । ये चरित्र ही विरोधों के मध्य व्यवहार जगत और आदर्श के मध्य अस्तित्व दर्शन की खोज करने को प्रयत्नशील हैं । फलतः द्वन्द्व संपूर्ण नाटक की अन्तश्चेतना में व्याप्त हो उसे सजीव बना देता है । पाल जीन सार्त्र अस्तित्ववाद के संघर्ष को अपने नाटकों में एक सशक्त जीवन दर्शन प्रदान करने वाले नाटककार हैं । उनके नाटक 'नो हाक्जेट' में अयथार्थ स्थिति के चित्रण से यथार्थ का चित्रण किया गया है । आयनिस, एस्टिल्स एवं गार्सिन- तीन चरित्रों

के माध्यम से मृत्यु के उपरांत व्यक्तिगत सम्बंध सूत्रों के दूसरे तक प्रवेश न पाने की उस व्यंग्यपूर्ण स्थिति का चित्रण है जहां हर व्यक्ति दूसरे को नर्क समझता है -

ब्रेख्त के पश्चात इस शताब्दी का अयथार्थ आन्दोलन को गति देने वाला एक प्रमुख नाटककार हैं टी0 एस0 इलियट जो अपने काव्य नाट्य (Poetic Drama) के लिए प्रसिद्ध हैं। इलियट ने नाटक में काव्यत्त्व की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए उसे जीवन रक्त के रूप में स्वीकार किया हैं जो नाटक की धमनियों में बहता है। इलियट के नाटकों में सूक्ष्मतम विचारों को स्थूल और सहज सम्प्रेष्य बिम्बों के रूप में प्रस्तुत किया गया हैं। इसकन इस काव्यत्त्व बोध और बिंब विधान के कारण ही टी0 एस0 इलियट का 'मर्डर इन दी कैथेड्रल' सशक्त अयथार्थवादी नाटक कहा जा सकता हैं। अयथार्थवादी नाट्यान्दोलन को इस शताब्दी के चतुर्थ दशक से लाकर आज तक गति देनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दो नाटककार हैं - टेनिसी विलियम्स और आर्थर मिलर। टेनिसी विलियम्स के अयथार्थवादी फार्म की व्यापकता में बिंब, प्रतीक, ध्वनि, रंग आदि का समावेश हो जाता हैं। इस सम्बंध में यह कथन उपयुक्त है - 'Tenesse Williams' Theatre is evocative. He is a painterly dramatist who builds up a play with a vatiety of delicate brush stokes like as-symbols,linked images,sound-effects, off stage,the sudden eruption of laughter, the sigh of a snatch o f music,interpreta-tion of a scene by some mysteriously poetic character,electric-lights,'might of design' and 'mystery of colour'[1] इस प्रकार इस नाटककार में अयथार्थवाद के सभी उपादान प्राप्त होते हैं। 'दी ग्लास मेनेजरी' ऐसे ही प्रभावों से भरा नाटक हैं। विलियम्स की ही कोटि का दूसरा सशक्त नाटककार हैं आर्थर मिलर जिसके नाटकों में वे मांसल रंगतत्त्व भाषा और कथोपकथन में विशेष विपुलता से मिल जाते हैं जिसके कारण वे दर्शक पर एक स्थायी मानसिक प्रभाव छोड़ते हैं। 'क्रूसीबल' मिलर का प्रतिनिधि नाटक हैं जिसमें नाटककार की बौद्धिकता मानसिक प्रभावों के साथ अभिव्यक्त हुई हैं।

1- Twentieth Century Drama.E ditor-Pro.Basil Willey-Page-166

उपर्युक्त नाटककार 20 वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के आसपास अपने अयथार्थवादी रंगविधान को लेकर समक्ष आये थे। इस आन्दोलन के मूल में इब्सन और बर्नार्ड शा के बुद्धिवादी और अतियथार्थवादी नाटकों की प्रतिक्रिया विद्यमान थी। हमारे यहाँ यही प्रतिक्रिया मिश्र जी, गोविन्ददास और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों के विरुद्ध लक्ष्य की जा सकती है जिसके कारण स्वतंत्रता के पश्चात माथुर, अश्क, भारती, राकेश व लाल जैसे कल्पनाशील नाटककारों का उदय हुआ। नाटकों की इस विकास प्रक्रिया में हमारे हिन्दी जगत का अन्तर्राष्ट्रीय जगत से अपूर्व साम्य मिलता है किन्तु हिन्दी नाटकों में निर्देशन कला का वह सामयिक व समान्तर विकास नहीं मिलता जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देखने में आता है। इसका स्पष्ट कारण हमारे यहाँ रंगमंच के साधनों का अभाव था। हमारे यहाँ स्वतंत्रता के उपरांत विकासशील नाटककारों को रंगमंच के लिये स्वयं प्रयत्न करने पड़े जबकि बाहर नाटककारों को अपने नाटकों के प्रयोग की कसौटी के लिये स्वयं प्रयत्नशील नहीं होना पड़ता था प्रत्युत समकालीन निर्देशक अपने समय के रंगमंच पर इन नाटकों को निर्देशित व मंचित कर दिखाता था। हमारे यहाँ तो नाटककारों को दोहरी भूमिका अपनानी पड़ी- एक साथ रचनाकार और रंगशिल्पी की। यही कारण था कि हमारे यहाँ स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद जाकर अब कहीं ऐसा स्वतंत्र निर्देशक वर्ग तैयार हुआ है जो रचित नाटकों को रंगमंच की कसौटी पर स्वतंत्र रूप से कसकर निष्पक्ष निर्णय दे सके।

भारतीय नाटक व रंगमंच के सन्दर्भ में 1943 के आस-पास जो 'इप्टा' नाट्य संस्था सक्रिय हुई वही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक समान्तर आंदोलन के रूप में लक्ष्य की जा सकती है। निश्चय ही जैसे 'इप्टा' का एक प्रच्छन्न राजनीतिक उद्देश्य था, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित इसी प्रकार की नाट्य संस्थाओं का भी उद्देश्य था। 1930 से लेकर 1950 तक का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्यवादी प्रभाव का वर्ष कहा जा सकता है। नाटकों पर इस क्रान्ति के प्रभाव का प्रमाण यह था कि इसी समय जर्मनी में श्रमिक मंचों की स्थापना हुई। इस प्रकार के मंच का मुख्य उद्देश्य साम्यवादी क्रांति का प्रचार-प्रसार करना था। 1930 में बर्लिन में 'वोक्स-व्यून' नामक नाट्य-मंडलियों का उदय हुआ जो रंगमंच पर परस्पर वार्तालाप और गति द्वारा दर्शकों के तक

अपना जन सन्देश पहुंचाती थी । वार्तालाप की यह तकनीक `स्पेक्शर` कहलाती थी । यह एक सीमा तक `इप्टा` की उस शैली से मिलती-जुलती थी जिसमें दर्शकों के मध्य से अभिनेता उठकर मंच पर आते थे और उनसे अपना दु:ख-दर्द बयान करते थे ।

रूस में मजदूर चेतना को जाग्रत करने के लिये `एजिटप्राप` नामक नाट्य-मंडलियाँ प्रारंभ हुई । इस आन्दोलन ने धीरे धीरे आस्ट्रिया, हंगरी, बेल्जियम, फ्रांस, स्कैंडिनेविया तक प्रसार पा लिया और `एजिटप्राप` इन स्थानों पर भी प्रारंभ हो गई । अमेरिका में ये ही एजिटप्राप` शाक ट्रूप, ब्ल्यू ब्लाउजेज एवं रिबल प्लेयर्स आदि भिन्न-भिन्न नामों से ख्यात हुई । अमेरिका में तो इन मंडलियों के अपने थियेटर्स भी स्थापित हुए जिनके नाम भी अपने उद्देश्यों के अनुरूप `वर्कर्स लेबोरेटरी थियेटर(शिकागो), न्यूयार्क में `ज्यूविश वर्क्स थियेटर` एवं लीग आफ वर्कर्स थियेटर्स` थे ।

ये सभी मंडलियाँ एवं थियेटर्स अव्यावसायिक थे, वैसे ही जैसे `इप्टा` । इस समय सामाजिक जन समस्याओं से जूझने के लिये `फेडरल थियेटर आफ डबल्यू0 पी0 ए0 की भी स्थापना हुई जिसने नाटकों के माध्यम से समाज सेवा के कार्य को तो आगे बढ़ाया ही, साथ ही थियेटर को वैतनिक स्तर प्रदान कर बेरोजगारी उन्मूलन में भी योगदान किया ।

डा0 लक्ष्मीनारायण लाल के जीवन के प्रारंभिक उत्थान में उन्हें नाटकों की ओर प्रेरित करने में उपर्युक्त राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ सीधे अथवा माध्यम से उन पर प्रभाव का कारण बनी हैं । हम प्रारंभिक विकासशील व्यक्तित्व को दो चरणों में विभाजित कर देख सकते हैं । लाल के व्यक्तित्व- विकास का प्रथम चरण चुनौती, साहस और अवसर से संयोजित है । जलालपुर छोड़कर बस्ती की ओर एक कम्बल और कुछ रूपये लेकर प्रस्थान करने के साथ उनके जीवन में चुनौतियों और साहस की भूमिका प्रारंभ होती है । उनके विद्यार्थी जीवन का यह प्रारंभ संघर्षपूर्ण है । ट्यूशन द्वारा फीस का खर्च निकालना, अपने ही उपन्यास को बेचने पर बाध्य होना उनके जीवन की संघर्ष जीविता की ओर एक संकेत है । अध्ययन में आगे बढ़ने में उन्हें

अपने गांव या घर से प्रेरणा नहीं मिली (जैसा कि वे स्वयं कहते हैं) इसके लिए स्वत: प्रेरणा ने ही उन्हें अवसर खोज निकालने को उमंगित किया । इस प्रकार अपने प्रारंभिक सामाजिक व्यक्तित्व की स्थापना में आर्थिक स्तर पर चुनौती का सामना उन्हें करना पड़ा ।

चुनौती को स्वीकार करते हुए और संघर्ष का जीवन व्यतीत करते हुए परिस्थितियों के साथ यथा सम्भव अस्तित्व बोध बनाये रखकर तालमेल की जो प्रक्रिया है- वह हम उनके जीवन विकास के दूसरे चरण विश्वविद्यार्थी जीवन से लाकर उस स्थिति तक लक्ष्य कर सकते हैं जहां तक उन्होंने अनेक नौकरियां स्वीकार कर छोड़ दीं । यही व्यक्तित्व विकास का वह धरातल हैं जहां से परिवेश को उसके गहन तल तक जाकर उन्होंने समझा हैं । विश्वविद्यालय में प्रवेश के समय वाइस चान्सलर के समक्ष अपनी दृढ़ता और आत्म विश्वास का परिचय और बाद में अपने अध्यापनकाल के मध्य 'ईर्ष्यालु अध्यापकों' से[1] उनका अस्तित्व के लिए द्वन्द्व एवं लखनऊ आकाशवाणी के ड्रामा प्रोड्यूसर पद को अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की रक्षार्थ छोड देने की जो घटनाएं हैं वे, 'स्थापित' को अस्वीकार करने की ही प्रक्रियाएं हैं । यहां उनके व्यक्तित्व में 'स्व' और 'परिवेश' का समायोजन हुआ अवश्य हैं (पूर्व पृष्ठों के अनुसार) किन्तु वह विरोध के माध्यम से गुजर कर हैं । उन्होंने समाज के साथ तालमेल बैठाने के लिए स्वयं के अस्तित्व को विनष्ट नहीं किया प्रत्युत विरोधियों को अपनी स्वतंत्र जीवन पद्धति के स्वरूप का परिचय दे समाज में सम्मानपूर्ण स्थान बनाया हैं । इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में समायोजन की एक नवीन प्रक्रिया देखने को मिलती हैं ।

व्यक्तित्व की यह खोज और उसके लिये निरन्तर सृजनात्मक द्वन्द्व की अवस्था में बने रहने की डा० लाल की मनोवृत्ति हैं । वर्तमान में उनका स्वतंत्र रूप से जीवन यापन करना एक से 'निरन्तर चल रहा समाज के साथ वह युद्ध' ही हैं जिसके सम्बंध में अपने उपन्यास 'मन-वृन्दावन' में लिखते हैं -

---

1- स्वयं डा० लाल के शब्दों में ।

हिरनमयी ने सुबन्धु का हाथ पकड़ लिया, बड़े कोमल स्वर में बोली-
सुनो---सुनो ! सुबन्धु--- ए सुबन्धु !'
'क्या है ?'
तब हिरन बोली- 'युद्ध की विभीषिका झेली जाती है, प्रलय संहार सहा जाता है।'
'पर किसलिये ?' सुबन्धु ने पूछा।
'दायित्व निर्वहण के लिये'- हिरन ने उत्तर दिया।
सुबन्धु काफी देर चुप रहने के बाद बोला,' मैं कोई दायित्व नहीं जानता।'
'अपना व्यक्ति तो जानते हो तुम।'
सुबन्धु ने कोई उत्तर न दिया।
तब हिरन बोली- 'अपने उसी व्यक्तित्व की खोज के लिये युद्ध की विभीषिका झेली जाती है। प्रलय संहार सहा जाता है।[1]

लाल के जीवन वृत्त और उनके व्यक्तित्व-निर्माण की पृष्ठभूमि पर व्यापक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासशील राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों के संदर्भ में रचना शील व्यक्तित्व का संघर्ष जितना व्यापक और गहन होता है, उसके अनुपात में प्राप्त परिणाम भी उतना ही व्यापक और गहन होता है। लाल द्वारा रचे गये साहित्य में राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक स्तर से चिन्तन के धरातल पर एक बौद्धिक का संघर्ष देखने को मिलता है। 'स्थापित' के विरुद्ध आवाज उठाता हुआ यह रचनाकार आत्म साक्षात्कार और दर्शन की प्राप्ति की एक क्रमिक प्रक्रिया से गुजरता है। जीवन में घट रही इस प्रक्रिया को ही वह अपनी रचना में चरित्रों और उनके इर्द-गिर्द बुनी घटनाओं के माध्यम से प्रकट करता है। फल-स्वरूप 'मिस्टर अभिमन्यु' जैसी रचनाएं रचनाकार के जीवन का ही 'प्रोजेक्शन' बन जाता है। लाल के नाट्य व्यक्तित्व का यही वैशिष्ट है कि वहां रचना, रचनाकार का जीवन और रचना की जीवन दृष्टि- तीनों एक सूत्र में अनुस्यूत हैं और व्यक्तित्व

1- मन वृन्दावन-डा0 लक्ष्मीनारायण लाल,पृ0 140